11.7 अभ्यास के प्रश्न

(क) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. प्रशिक्षण का क्या अर्थ है ? प्रशिक्षण के प्रकार की विवेचना करें ।

उत्तर–(11.2.1, 11.2.2, 11.2.5)

2. प्रशिक्षण का उद्देश्य क्या है ? भारतीय प्रशिक्षण की समस्याओं पर प्रकाश डालें ।

उत्तर–(11.2.3, 11.3, 11.4)

(ख) लघु उत्तरीय प्रश्न

1. प्रशिक्षण के उद्देश्य पर टिप्पणी लिखें ।

उत्तर–(11.2.3)

2. प्रशिक्षण की पद्धतियों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखें ।

उत्तर–(11.2.4)

11.8 प्रस्तावित पाठ

1. विष्णु भगवान और विद्याभूषण : **लोक प्रशासन के सिद्धान्त,** एस. चांद एण्ड कम्पनी लिमिटेड
2. डॉ. एम. पी. शर्मा : **लोकप्रशासन-सिद्धान्त एवं व्यवहार,** किताब महल ।
3. अवस्थी एवं महेश्वरी : **लोक प्रशासन,** लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा-3 ।

पदोन्नति

पाठ-संरचना

12.0 उद्देश्य
12.1 विषय प्रवेश
12.2 पदोन्नति का अर्थ
12.3 पदोन्नति का उद्देश्य और महत्व
12.4 पदोन्नति के सिद्धान्त
12.4.1 वरिष्ठता का सिद्धान्त
12.4.2 योग्यता का सिद्धान्त
12.4.3 पदोन्नति के लिए योग्यता आंकने की पद्धतियाँ
12.5 भारत में पदोन्नति प्रणाली
12.6 सारांश
12.7 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द
12.8 अभ्यास के प्रश्न
12.9 प्रस्तावित पाठ

12.0 उद्देश्य

कार्मिकों के संबंध में जो अनेक समस्याएं हैं उनमें कर्मचारियों की पदोन्नति की समस्या सबसे महत्वपूर्ण है । सच तो यह है कि किसी भी कार्मिक व्यवस्था में तब तक दक्षता नहीं आ सकती जब तक कर्मचारियों को ऊपर पदोन्नति पाने के यथेष्ट अवसर न मिलते रहें । कर्मचारियों का मनोबल उन्नत रखने के लिए एक स्वस्थ पदोन्नति पाना अनिवार्य है । यद्यपि अधिकांश अवसरों पर पदोन्नति के साथ-साथ वेतन भी बढ़ जाता है तथापि पदोन्नति का मूल तत्व यह है कि इसमें कर्मचारी ऊंचे पद पर जाता है । वास्तविक पदोन्नति का अर्थ है ऊचे ग्रेड वाले ऊँचे पद पर उन्नति करना । इससे कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों में परिवर्तन आ जाता है । यदि किसी लेक्चरर को विभागाध्यक्ष नियुक्त कर दिया जाय तो यह उसकी पदोन्नति है, क्योंकि उसके कार्यों और उत्तरदायित्वों में परिवर्तन आ गया है । पदोन्नति और वेतन की वृद्धि में अन्तर है । वृद्धि को प्रशासकीय पद्धति भी कहा गया है जिसका अर्थ है किसी पद के वेतन मान में निर्धारित वृद्धि और वतन की बढ़ोत्तरी । कर्मचारी किसी निश्चित वेतन मान से शुरू होता है और जैसे-जैसे वह अपनी सेवा में आगे बढ़ता है और उसे अधिक अनुभव प्राप्त होता है, उसे ऊँचा वेतनमान दिया जाता है ।

12.1 विषय प्रवेश

सर्वप्रथम उचित पदोन्नति प्रणाली योग्य व्यक्तियों को सार्वजनिक सेवा की ओर आकर्षित करने और उनको सेवा छोड़कर जाने से रोकने के लिए आवश्यक है । एक अच्छी पदोन्नति प्रणाली कर्मचारियों की उनके काम में रुचि बनाये रखती है । पदोन्नति प्रणाली के महत्व को देखते हुए यह आवश्यक है कि यह उपयुक्त होनी चाहिए ।

12.2 पदोन्नति का अर्थ

अर्थ-लैटिन के शब्द ''प्रिमोवीर'' से अंग्रेजी भाषा का शब्द ''प्रमोट'' और ''प्रमोशन'' बना है । शब्दकोश के अनुसार इस शब्द का अर्थ है- (क) पद, स्तर, सम्मान में वृद्धि होना, ऊंचा उठना, आगे बढ़ना, (ख) किसी वर्ग या पद से योग्यता के आधार पर आगे बढ़ना, (ग) किसी की समृद्धि या विकास में योग देना, अग्रसर होना या ज्ञान-वृद्धि करना ।

एल. डी. व्हाईट ने पदोन्नति का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है कि ''एक स्थान से कर्मचारी की अधिक कठिन कार्य एवं गुरुतर दायित्व के स्थान पर नियुक्ति जहाँ उसका पद बदल जाय और प्रायः वेतन भी बढ़ जाय। विलियम जी, टोरपे का मानना है कि ''पदोन्नति पदाधिकारी के एक पद से ऐसे दूसरे पद पर पहुंचने की ओर संकेत करती है जो उच्चतर श्रेणी या उच्चतर न्यूनतम वेतन वाला होता है । पदोन्नति का अभिप्राय है लोक-सेवक के कर्त्तव्यों एवं उत्तरदायित्वों में वृद्धि कर देना ।''

एक बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि पदोन्नति का अर्थ वेतन-वृद्धि नहीं है, क्योंकि प्रत्येक सरकारी कर्मचारी को अपने वेतनक्रम के निम्नतम वेतन से उच्चतर वेतन-स्तर की तरफ बढ़ने के लिए वार्षिक वेतन-वृद्धि दी जाती है, लेकिन इस वेतन-वृद्धि से उसके पद और दायित्व में वृद्धि नहीं होती है । विलोबी ने पदोन्नति तथा वेतन-वृद्धि के अन्तर को स्पष्ट करते हुए कहा है कि ''वेतन-वृद्धि का अर्थ केवल यह है कि लोक सेवक के वर्त्तमान पद अथवा उसके कार्य की प्रकृति में कोई परिवर्तन किये बिना उसके वेतन में वृद्धि कर दी गयी है । पदोन्नति का अर्थ यह है कि कर्मचारी को निम्न स्तर के पद से उच्च स्तर के पद पर नियुक्त कर दिया गया है ।'' कुछ अपवादों को छोड़कर पदोन्नति के साथ वेतन-वृद्धि भी आवश्यक रूप से होती है लेकिन केवल वेतन-वृद्धि ही पदोन्नति नहीं है । इस प्रकार उपुर्यक्त परिभाषाओं के आधार पर पदोन्नति का अर्थ है - (क) एक निम्न स्तर पद से उच्चतम पद पर नियुक्ति, (ख) कर्त्तव्यों और दायित्वों में वृद्धि, तथा (ग) पूर्व के वेतनमान से ऊंचे वेतनमान में प्रवेश ।

12.3 पदोन्नति का उद्देश्य और महत्व

लोक-सेवा में लोक सेवकों की पदोन्नति का विशिष्ट महत्व है । एक उपयुक्त पदोन्नति व्यवस्था के अभाव में कार्मिकों की कार्यकुशलता को बनाये रखना सम्भव नहीं है । ए. डब्ल्यू. प्रोक्टर के शब्दों में पदोन्नति प्रणाली के अभाव का कार्मिक प्रशसन की सभी प्रक्रियाओं पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है । भर्त्ती पर भी इसका निरुत्साही प्रभाव पड़ता है । इसके कारण अच्छे कर्मचारी प्रायः सरकारी नौकरी छोड़कर प्राइवेट नौकरी कर लेते हैं । यह अभाव कर्मचारियों को उन प्रशिक्षण कार्यक्रमों में जाने से निरुत्साहित करता है जो लोक-सेवा में उनकी उपयोगिता बढ़ाने के लिए आयोजित किये जाते हैं । यह सरकारी संस्थानों में अनुशासन, पद भावना और उत्साह को कायम रखना कठिन बना देता है । इसके परिणामस्वरूप व्यक्ति और समूह की कार्यदक्षता के ऊंचे मानक बनाये रखना कठिन हो जाता है ।'' दूसरी तरफ उन्होंने पदोन्नति के सकारात्क पक्ष पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि ''पदोन्नति की कर्मचारियों के लिए एक पुरस्कार अथवा सम्भावित पुरस्कार के रूप में सीधी सार्थकता है । वास्तविक पदोन्नति एक पुरस्कार है जबकि पदोन्नति का आने वाला अवसर एक सम्भावित पुरस्कार होता

है जो भविष्य की वस्तु है, लेकिन जो अत्यन्त महत्व का है । पदोन्नति के महत्व एवं उपयोगिता को निम्नलिखित प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है :

1. पदोन्नति के कारण लोक-सेवा में योग्य, कुशल तथा प्रतिभाशाली व्यक्ति आकर्षित होते हैं, क्योंकि उन्हें इसमें अपना सुखद भविष्य नजर आता है ।

2. पदोन्नति की वजह से लोक-सेवक अपने कार्यों और उत्तरदायित्वों को उत्साहपूर्वक एवं कुशल ढंग से करता है जिससे प्रशासनिक कार्यकुशलता में वृद्धि होती है । पदोन्नति अपने आप में एक ऐसी प्रेरणा है जो कर्मचारियों को अपनी ओर आकर्षित करती है ।

3. पदोन्नति के कारण कर्मचारियों में आत्म-सुधार, नैतिक विकास एवं मनोबल में वृद्धि होती है जो संगठन के लिए लाभदायक सिद्ध होता है । डॉ० व्हाइट ने भी कहा है कि पदोन्नति का मुख्य उद्देश्य उच्चतर पदों पर कुशल एवं योग्य व्यक्तियों को प्राप्त करना तथा सम्पूर्ण संगठन के मनोबल को ऊपर उठाये रखना है ।

4. किसी भी संगठन में पदोन्नति उसके बहुमुखी विकास में योगदान देती है, क्योंकि उचित पदोन्नति की व्यवस्था से संगठन में योग्य और कुशल कार्मिक आते हैं । उन्हें यह विश्वास रहता है कि निर्धारित समय और निर्धारित योग्यता के आधार पर उनकी पदोन्नति होगी ही । फलस्वरूप संगठन में अनुशासन तथा एकता बनी रहती है और संगठन के उद्देश्यों के प्रति सभी लोग सजग होकर मिल-जुलकर कार्य करते हैं । प्रो० व्हाइट के शब्दों में, "एक दोषपूर्ण पदोन्नति पद्धति संगठन को न केवल इस प्रकार हानि पहुँचाती है बल्कि इस प्रकार भी कि उससे सम्पूर्ण समूह का मनोबल गिर जाता है ।"

5. पदोन्नति की उचित व्यवस्था रहने के कारण निम्नतर पदों पर भी योग्य व्यक्ति नियुक्त होना चाहते हैं, क्योंकि वे जानते हैं कि कुछ दिनों की सेवा के बाद निम्नतर पद से उच्चतर पद पर उनकी नियुक्ति अवश्यम्भावी है ।

6. नियोक्ता के लिए भी पदोन्नति लाभदायक है, क्योंकि उन्हें वर्तमान कर्मचारियों में से महत्वपूर्ण उत्तरदायित्वों का निर्वाह करने के लिए अनुभवी कर्मचारी प्राप्त हो जाते हैं जो निश्चय ही नवनियुक्त कर्मचारियों से बेहतर और उपयोगी होते हैं ।

7. पदोन्नति की व्यवस्था से लोक-सेवा में स्थायित्व बना रहता है और वे व्यक्तिगत प्रशासन की तरफ भागना नहीं चाहते हैं, क्योंकि एक योग्य व्यक्ति को सरकारी सेवा में अच्छी सेवा शर्त उपलब्ध न हो तो वह इसमें नहीं रहना चाहेगा । अपने अच्छे भविष्य के लिए वह अन्य सेवाओं में जाना पसन्द करेगा जो सरकारी प्रशासन और समस्त संगठन के लिए हानिप्रद है । मेयर्स ने इस सम्बन्ध में कहा है कि यदि पदोन्नति की पद्धति असफल हो जाती है तो इसका दुष्प्रभाव समस्त पदाधिकारियों पर निश्चित रूप से पड़ेगा । इससे असंतोष उत्पन्न होता है, प्रेरणा का अभाव हो जाता है तथा सामान्य रूप से चरित्र का पतन हो जाता है ।

पदोन्नति के उपर्युक्त महत्व एवं उपयोगिता इस बात की ओर संकेत करती है कि कार्मिक प्रशासन में पदोन्नति का विशिष्ट महत्व है तथा इसके अभाव में संगठन के उद्देश्यों को प्राप्त करने में बाधा उपस्थित होगी । प्रो० विलोबी ने कहा है कि पदोन्नति दो दृष्टियों से लाभदायक है- प्रथम, सरकारी पदों के लिए योग्य एवं अनुभवी व्यक्ति प्राप्त होते हैं, दूसरे, इससे उनमें अच्छे कार्य करने की उत्तेजना बनी रहती है ।

12.4 पदोन्नति के सिद्धान्त

पदोन्नति के लिए लोक-सेवकों का चयन किस प्रकार किया जाय तथा पदोन्नति किसे दी जाय, यह एक महत्वपूर्ण समस्या है । कुछ लोगों की यह मान्यता है कि पदोन्नति में लोक-सेवकों के सेवाकाल अर्थात् ज्येष्ठता या वरिष्ठता को अवश्य ही आधार माना जाना चाहिए, क्योंकि जो व्यक्ति वर्षों से उस सेवा में एक पद पर कार्य कर रहा है तथा अनुभव प्राप्त कर चुका है उसकी नियुक्ति उसके तत्काल उच्च पद पर अवश्य की जानी

चाहिए। दूसरी तरफ कुछ ऐसे भी विद्वान और विचारक हैं जो यह मानते हैं कि पदोन्नति योग्यता के आधार पर दी जानी चाहिए । किसी पद पर एक अनुभवी व्यक्ति की अपेक्षा योग्य व्यक्ति का कहीं ज्यादा हक बनता है। चूंकि "ज्येष्ठता बनाम योग्यता एक विवादास्पद मसला है, अत: यह आवश्यक है कि इस पर विस्तार से अलग-अलग विचार किया जाय ।

12.4.1 वरिष्ठता का सिद्धान्त

इस सिद्धान्त की मान्यता यह है कि उन्हीं लोक-सेवकों को पदोन्नत किया जाना चाहिए जो अधिक दिनों तक की सेवा पूरी कर चुके हों अर्थात् जो लोक-सेवक सेवा में पहले प्रविष्ट हुआ हो, उसकी पदोन्नति पहले और बाद में भर्त्ती होने वाले की पदोन्नति बाद में की जानी चाहिए । दो कर्मचारियों में जो पहले से सेवा कर रहा है वह पदोन्नति का प्रथम अधिकारी है । अगर किसी महाविद्यालय में किसी विषय के विभागाध्यक्ष का पद रिक्त होता है तो उस पद पर विभाग के सबसे वरिष्ठ प्राध्यापक की ही पदोन्नति की जाती है । पदोन्नति के इस वरिष्ठता सिद्धान्त का ही अधिकांश कर्मचारी समर्थन करते हैं । वरिष्ठता सिद्धान्त के पक्ष में तर्क वरिष्ठता सिद्धान्त के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं :

1. वरिष्ठता सिद्धान्त के अनुसार पदोन्नति उन व्यक्तियों को प्राप्त होती है जिनको संगठन में अपेक्षाकृत अधिक अनुभव प्राप्त है ।

2. वरिष्ठता एक ऐसा निश्चित तथा वास्तविक तथ्य है, जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है । यह पदोन्नति का स्पष्ट एवं न्यायपूर्ण सिद्धान्त माना जाता है ।

3. वरिष्ठता के आधार पर पदोन्नति होने से पक्षपात, भाई-भतीजावाद और राजनीतिक दबाव की सम्भावनाएं समाप्त हो जाती हैं ।

4. पदोन्नति का यह सिद्धान्त स्वचालित प्रकार का होता है । कर्मचारियों में एक प्रकार निश्चिन्तता बनी रहती है कि वरिष्ठता के क्रम में आने पर उनको पदोन्नति प्राप्त हो ही जायगी । इस व्यवस्था से पुराने, अनुभवी और वरिष्ठ कर्मचारियों की प्रतिष्ठा और गौरव बना रहता है । इस व्यवस्था में अधिक आयु वाले व्यक्ति उच्च पदों पर और कम आयु वाले व्यक्ति उनके अधीन निम्न पदों पर काम करते हैं ।

6. तकनीकी सेवाओं के लिए यह सिद्धान्त ज्यादा उपयुक्त साबित होता है । तकनीकी सेवा में विशिष्टता प्राप्त करने तथा कार्य को अच्छी तरह सम्पादित करने के लिए लम्बे अनुभव की आवश्यकता होती है ।

7. वरिष्ठता के सिद्धान्त में पदोन्नति इतनी निश्चित और निर्धारित रहती है कि अधिकांश योग्य व्यक्ति लोक सेवा को ही अपनी जीवनवृत्ति के रूप में अपनाते हैं ।

8. कार्य करने का अनुभव अपने आप में एक प्रभावशाली प्रशिक्षण होता है, अत: वरिष्ठता सिद्धान्त के अन्तर्गत पदोन्नति किये गये व्यक्ति को व्यापक प्रशिक्षण नहीं देना पड़ता, जो संगठन के व्यय और समय दोनों की बचत करता है ।

9. वरिष्ठता का सिद्धान्त अपनाने से लोक-सेवकों तथा सेवा नियोजनकों के मध्य अच्छे सम्बंध बने रहते हैं ।

वरिष्ठता के सिद्धान्त के विपक्ष में तर्क—पियर ने ज्येष्ठता के सिद्धान्त का विरोध करते हुए कहा है कि केवल वरिष्ठता के ही पदोन्नति का आधार मानने का दुष्परिणाम यह होगा कि उच्च पदों पर अयोग्य तथा असमर्थ व्यक्ति आ जायेंगे । इससे कर्मचारियों की महत्वाकांक्षा नष्ट हो जायगी और वे प्रेरणाएं समाप्त हो जायेंगी जिनके द्वारा कर्मचारियों में व्यक्तित्व, साहस, आत्म-निर्भरता तथा प्रगतिशील दृष्टिकोण का विकास होता है । इससे लोक-सेवकों में आत्मसन्तुष्टि तथा उदासीनता के साथ कार्य को सम्पन्न करने की भावना का विकास हो जायगा । वरिष्ठता का सिद्धान्त योग्यता के सिद्धान्त का विरोधी है, अत: इसकी काफी आलोचनाएं की जाती हैं । वरिष्ठता सिद्धान्त के विपक्ष में जो तर्क दिये जाते हैं, उनमें से कुछ प्रमुख इस प्रकार हैं ।

1. इस बात की कोई गारण्टी नहीं है कि वरिष्ठ व्यक्ति योग्य होगा ही, क्योंकि योग्यता के लिए वरिष्ठता ही काफी नहीं होती है ।

2. इस व्यवस्था में कर्मचारी अपने कार्यों के प्रति उदासीन हो जाते हैं, उनमें काम करने की लगन एवं उत्साह की प्रवृत्ति का अभाव हो जाता है । ऐसी सम्भावना इसलिए हो जा सकती है क्योंकि प्रोन्नति निश्चित होती है ।

3. वरिष्ठता के आधार पर पदोन्नति का सिद्धान्त रूढ़िवादी एवं परम्परावादी है । इसमें प्रगतिशील एवं आधुनिक विचारों का समावेश नहीं रहता है ।

4. वरिष्ठता के सिद्धान्त की वजह से प्रशासन में स्थूलता या स्थिरता आ जाती है ।

5. वरिष्ठता के सिद्धान्त को अपनाये जाने से पदोन्नति का क्षेत्र अत्यन्त सीमित हो जाता है, क्योंकि इसमें विभाग में मौजूद व्यक्तियों में से ही कुछ को पदोन्नति देनी पड़ती है ।

12.4.2 योग्यता का सिद्धान्त

पदोन्नति के सम्बंध में दूसरा सिद्धान्त योग्यता का है । इस सिद्धान्त के अनुसार पदोन्नति वरिष्ठतम को नहीं बल्कि योग्यतम व्यक्ति को दी जानी चाहिए अर्थात् पदोन्नति के निर्धारण में प्रत्याशियों की व्यक्तिगत योग्यता क्षमता, दक्षता और कार्यकुशलता को ही महत्व दिया जाना चाहिए । अगर योग्यतम व्यक्ति को पदोन्नति का आधार नहीं बनाया गया तो न सिर्फ लोक-सेवकों की प्रगति का मार्ग अवरुद्ध हो जायगा, बल्कि प्रशासन में भी अक्षमता और अकार्यकुशलता का समावेश हो जायगा ।

योग्यता सिद्धान्त के पक्ष में तर्क–योग्यता सिद्धान्त के पक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं :

1. योग्यता के आधार पर जब लोक-सेवकों की पदोन्नति की जाती है तो लोक-सेवा को योग्य कुशल दूरदर्शी, निष्पक्ष तथा प्रगतिशील लोक-सेवक प्राप्त होते हैं । इन सर्वगुण सम्पन्न लोक-सेवकों के आ जाने से संगठन का स्तर ऊंचा उठ जाता है तथा संगठन अपने आप को मजबूत महसूस करने लगता है ।

2. योग्यता के सिद्धान्त का एक महत्वपूर्ण लाभ यह है कि लोक-सेवक काफी मेहनत, ईमानदारी तथा उत्साह से कार्य करते हैं ।

3. योग्यता का सिद्धान्त संगठन को हमेशा गतिशील बनाये रखते हैं । योग्यता के सिद्धान्त में उन्हीं व्यक्तियों को महत्व दिया जाता है जो नयी-नयी चुनौतियों तथा आधुनिक परिवर्तनों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर चलने के लिए तैयार हों ।

4. योग्यता का सिद्धान्त अधिक न्यायसंगत तथा वैज्ञानिक माना जाता है, क्योंकि इसमें कर्मचारियों के गुणों और क्षमताओं को महत्व दिया जाता है ।

5. योग्यता के सिद्धान्त के अन्तर्गत की प्रेरणा और प्रगति का आकर्षण प्रगतिशील व्यक्तियों को आकृष्ट करने तथा लोक-सेवा को अपनाने के लिए एक महत्वपूर्ण साधन बन जाता है ।

योग्यता सिद्धान्त के विपक्ष में तर्क–ऐसी बात नहीं है कि योग्यता का सिद्धान्त बिल्कुल निष्पक्ष और निरपेक्ष है । योग्यता के सिद्धान्त में भी कई अवगुण पाये जाते हैं जिसके चलते यह भी आलोचना का शिकार बन जाता है ।

योग्यता के आधार पर पदोन्नति के सिद्धान्त की प्रथम आलोचना यह की जाती है कि योग्यता निर्धारित करने की कोई भी ऐसी पद्धति नहीं है जो पूर्ण कही जा सके ।

इस सिद्धान्त की द्वितीय आलोचना यह की जाती है कि योग्यता के निर्धारण में पक्षपात की सम्भावना बनी रहती है ।

तृतीय, किसी पद के लिए क्या-क्या योग्यताएं होनी चाहिए, इस बात का भी पता लगाना कठिन है । पंचम, अनेक ऐसे पद होते हैं

जहां योग्यता से कहीं अधिक ज्यादा अनुभव की आवश्यकता होती है ।

उपर्युक्त आलोचनाओं और गुण के विश्लेषण के आधार पर यह बात सामने आती है कि योग्यता के सिद्धान्त को पूर्णतः नकारा नहीं जा सकता तथा यह पूर्णतः महत्वहीन भी नहीं है । योग्यता को भी पदोन्नति का मापदण्ड बनाया जाना चाहिए लेकिन योग्यता को पदोन्नति का मापदण्ड बनाये जाने के संदर्भ में एक महत्वपूर्ण समस्या यह उठती है कि आखिरकार पदोन्नति के लिए योग्यता का निर्धारण कैसे किया जाय ।

12.4.5 पदोन्नति के लिए योग्यता आंकने की पद्धतियाँ

पदोन्नति में योग्यता के आधार को वरिष्ठता के आधार से ज्यादा महत्व दिया जाना चाहिए । इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि योग्य व्यक्ति पदोन्नति का पहला हकदार होता है । लेकिन योग्यता के सिद्धान्त की सफलता भी इस बात पर निर्भर करती है कि वास्तव में योग्य व्यक्तियों का ही चयन हो । योग्यता के निर्धारण में अगर कहीं भी गलती हुई तो अयोग्य व्यक्तियों का सेवा में प्रवेश प्रारम्भ हो जाएगा । अतः इस सिद्धान्त में योग्यता के निर्धारण की समस्या एक महत्वपूर्ण बाधा है । साधारणतया प्रत्याशियों की योग्यता को निर्धारित करने के लिए तीन विधियां प्रयोग में लायी जाती हैं ।

1. पदोन्नति के लिए परीक्षाएं
2. सेवा अभिलेख अथवा कार्यकुशलता माप,
3. विभागाध्यक्ष का व्यक्तिगत निर्णय अथवा पदोन्नति मण्डल का निर्णय

1. पदोन्नति के लिए परीक्षाएं—पदोन्नति के लिए योग्यता को जांचने का सबसे अच्छा तरीका पदोन्नति परीक्षा की पद्धति है । ये पदोन्नति प्रतियोगिता परीक्षाएं साधारणतया तीन तरह की होती हैं :

(क) खुली प्रतियोगिता परीक्षा

(ख) सीमित प्रतियोगिता परीक्षा

(ग) उत्तीर्णता परीक्षा

खुली प्रतियोगिता परीक्षा की तरह जो परीक्षा आयोजित की जाती है उसमें बैठने का अवसर सभी व्यक्तियों को प्राप्त होता है, चाहे वे पहले से सेवा में हों अथवा नहीं । इस प्रतियोगिता परीक्षा के आधार पर चुने हुए प्रत्याशियों को रिक्त पदों पर नियुक्त किया जाता है । इसमें विभागी कर्मचारियों को बाहर के नवयुवकों के साथ प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है ।

सीमित प्रतियोगिता परीक्षा में केवल उन्हीं व्यक्तियों को परीक्षा में बैठने की अनुमति दी जाती है जो पहले से ही उस विभाग में सेवा कर रहे होते हैं । बाहर के नये व्यक्तियों तथा अन्य विभागों के व्यक्तियों को इस परीक्षा में बैठने की अनुमति नहीं दी जाती है ।

उत्तीर्णता परीक्षा में प्रत्याशियों को कड़ी प्रतियोगिता नहीं करनी पड़ती है । आयोजित पदोन्नति परीक्षा में उन्हें सिर्फ अपनी न्यूनतम योग्यता साबित करके उत्तीर्ण भर होना पड़ता है । इनको विभागीय परीक्षा भी कहा जाता है ।

2. सेवा-अभिलेख अथवा दक्षता-मापन—सेवा-अभिलेख व्यवस्था के आधार पर पदोन्नति उन्हीं कर्मचारियों को दी जाती है जिन्होंने अपने सेवाकाल में अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह अच्छी तरह से किया है तथा उनको सौंपे गये कार्यों की प्रगति संतोषजनक रही है । प्रत्येक कर्मचारियों की एक सेवा अभिलेख सम्बंधी पुस्तिका बना दी जाती है जिसमें उस विभाग के विभागाध्यक्ष अथवा किसी अन्य वरिष्ठ पदाधिकारी के द्वारा समय-समय पर उस कर्मचारी की दक्षता के सम्बंध में विवरण दर्ज किये जाते हैं, पदोन्नति के समय सेवा-अभिलेख में दर्ज विवरणों के आधार पर ही उससे सम्बंधित निर्णय लिये जाते हैं । इस व्यवस्था को गुप्त वार्षिक प्रतिवेदन भी कहा जाता है, क्योंकि यह कर्मचारी के तत्कालीन वरिष्ठ अधिकारी द्वारा गुप्त रूप से प्रत्येक साल दर्ज की जाती है ।

3. विभागाध्यक्ष का व्यक्तिगत निर्णय अथवा पदोन्नति मण्डल का निर्णय–पदोन्नति के लिए योग्यता-निर्धारण का महत्वपूर्ण तरीका है विभागाध्यक्ष का व्यक्तिगत निर्णय । विभागाध्यक्ष को अपने विभागों के सभी कर्मचारियों के सम्बंध में पूरी जानकारी रहती है कि कौन कर्मचारी योग्य, कार्यकुशल, सक्रिय तथा प्रशासनिक गुणों से सम्पन्न है । उसे यह भी पता रहता है कि कौन कर्मचारी सुस्त, आलसी, धोखेबाज, अविश्वासी चापलूस तथा अकार्यकुशल है । विभागाध्यक्ष को इस बात की भी पूरी जानकारी रहती है कि जिस पद पर पदोन्नति होने वाली है उसके लिए किस प्रकार की योग्यता की आवश्यकता है । अत: ऐसी उम्मीद की जाती है कि पदोन्नति के सम्बन्ध में विभागाध्यक्ष निर्णय लेने में ज्यादा सक्षम होगा और यह उसी के ऊपर है । पदोन्नति के लिए सुझाव देने का भी अधिकार विभागाध्यक्ष को ही प्राप्त होना चाहिए ताकि इसके द्वारा वह अपने योग्य कर्मचारियों को पुरस्कृत कर सके और अयोग्य कर्मचारियों को दण्ड दे सके ।

पदोन्नति की इस प्रणाली में भी अनेक अवगुण पाये जाते हैं । इस प्रकार की पदोन्नति व्यवस्था अन्याय तथा भ्रष्टाचार को जन्म देती है । आलोचकों का मत है कि विभागाध्यक्ष द्वारा किये जाने वाले निर्णय में पक्षपात की पूरी सम्भावना रहती है । राजनीतिक प्रभाव, जातिवाद तथा अन्य प्रकार के दबावों में आकर विभागाध्यक्ष गलत निर्णय भी कर बैठता है ।

विभागीय पदोन्नति मण्डलों द्वारा जो पदोन्नतियाँ की जाती हैं उसमें बहुत हद तक उपर्युक्त दोष दूर हो जाते है । पदोन्नति के लिए एक बोर्ड गठित कर दिया जाता है, विभागाध्यक्ष के अतिरिक्त अन्य उच्च पदाधिकारी भी शामिल रहते हैं । बाहर के भी कुछ सदस्यों को इस बोर्ड में स्थान दिया जाता है । यह पदोन्नति मण्डल समस्त कर्मचारियों के काम की समीक्षा करता है और उनके सेवा अभिलेखों के आधार पर उनकी पदोन्नति के सम्बंध में सिफारिश करता है । यदि किसी कर्मचारी को यह आभास होता है कि विभागाध्यक्ष या पदोन्नति मण्डल ने पदोन्नति के सम्बंध में कोई महत्वपूर्ण गलती की है तो वह कर्मचारी संगठन के माध्यम से विभागाध्यक्ष अथवा पदोन्नति मण्डल से अपील कर सकता है । इन अपीलों को विभाग के बाहर स्वतंत्र निकायों के पास भेज दिया जाता है जो अपीलों पर सम्पूर्ण विचार और सूक्ष्म जांच-पड़ताल करने के बाद अपना निर्णय देते हैं ।

मूल्यांकन-पदोन्नति के दो मुख्य आधारों-वरिष्ठता का सिद्धान्त तथा योग्यता का सिद्धान्त का व्यापक अध्ययन करने के पश्चात् जो प्रमुख बात सामने आयी है वह यह है कि पदोन्नति के सम्बंध में कोई भी सिद्धान्त अपने आप में पूर्ण नहीं है । जिस प्रकार वरिष्ठता का सिद्धान्त गुणों और अवगुणों से भरा पड़ा है उसी प्रकार योग्यता के सिद्धान्त को भी आलोचनाएं की जाती हैं, परंतु योग्यता सिद्धान्त का पलड़ा कुछ भारी अवश्य है, क्योंकि योग्यता को दबाया और कुचला नहीं जा सकता है । योग्यता की जड़ें इतनी गहरी होती हैं कि एक न एक दिन उसकी हरियाली ऊपर आ ही जाती है जिसे नजरअंदाज नहीं किया जा सकता है । दूसरी तरफ यह भी कहा जाता है कि "अनुभव का कोई विकल्प नहीं होता है ।" अत: इसकी भी अवहेलना नहीं की जा सकती है । पदोन्नति के लिए बेहतर ढंग यही होगा कि सेवाओं के कार्य की प्रकृति और गुणवत्ता के आधार पर दोनों ही प्रणालियों को अपनाया जाय । अधिकांश देशों में दोनों ही पद्धतियों को आवश्यकतानुसार प्रयोग में लाया जाता है । अमेरिका में वरीयता, पदोन्नति परीक्षा तथा कार्यकुशलता मापक रेकॉर्ड के आधार पर पदोन्नतियाँ दी जाती हैं । ब्रिटेन में पदोन्नति मण्डल की व्यवस्था को ज्यादा महत्व दिया जाता है परन्तु वरीयता के सिद्धान्त को भी वहां पूर्णतया नकारा नहीं जाता है । भारत में भी पदोन्नति के दोनों सिद्धान्तों को अपनाया गया है ।

12.5 भारत में पदोन्नति प्रणाली

भारत में वरिष्ठता तथा योग्यता दोनों को ही पदोन्नति का आधार माना जाता है । लेकिन इन दोनों नियमों का समान रूप से सभी विभागों पर लागू नहीं किया जाता है । अलग-अलग विभागों में इसकी प्रथा भिन्न-भिन्न है । कहीं वरिष्ठता को ज्यादा महत्व दिया जाता है तो कहीं योग्यता को ज्यादा महत्व दिया जाता है, परन्तु वरिष्ठता को ही कुल मिलकार ज्यादा प्राथमिकता प्रदान की जाती है । केन्द्र वेतन आयोग ने अपनी सिफारिश

में कहा है कि अनेक अवस्थाओं में, विशेषकर पर्याप्त काल तक काम करने से अपने आप प्रशिक्षण प्राप्त हो जाने की स्थिति में वरिष्ठता के नियम का पालन होना चाहिए । लेकिन उच्चतम पदों के लिए वरिष्ठता की अपेक्षा योग्यता को ज्यादा महत्व प्रदान किया जाना चाहिए । पदोन्नति के समय योग्यता और अनुभव दोनों ही आधारों पर पदों के कार्यों की प्रकृति के अनुसार अलग-अलग विचार किया जाता है ।

भारत में पदोन्नति के सिद्धान्त—भारत में पदोन्नति के लिए संविधान में यह प्रावधान है कि एक सेवा से किसी दूसरी सेवा में पदोन्नतियाँ करने एवं इसके लिए प्रत्याशियों की अपयुक्तता के सम्बंध में अपनाये जाने वाले सिद्धान्तों के बारे में भारत सरकार संघ लोक सेवा आयोग से परामर्श करेगी, लेकिन व्यवहारत: जब तक भर्त्ती नियमों के विपरीत कोई विशेष उपबन्ध न हो, भारतीय संविधान की धारा 320 (3) के अन्तर्गत बनाये गये विनियमों द्वारा तृतीय एवं चतुर्थ श्रेणी के अन्दर तथा इनमें से ऊपर को जाने वाली पदोनतियों को संघ लोक-सेवा आयोग के क्षेत्राधिकार से अलग कर दिया गया है । भारत में पदोन्नति के सम्बंध में मुख्यत: तीन सिद्धान्तों पर अमल किया जाता है ।

(क) योग्यता के आधार पर पदोन्नति

(ख) योग्यता एवं वरीयता के आधार पर पदोन्नति

(ग) वरीयता के आधार पर पदोन्नति

भारत में पदोन्नति की प्रक्रिया में मुख्यत: तीन बातें पायी जाती हैं । प्रथम, कुछ विभागों में अलग से पदोन्नति मण्डल का गठन किया गया है । इन मण्डलों में विभागाध्यक्ष, उच्च अधिकारी, कर्मचारी सभी के सदस्य तथा कुछ बाहर के व्यक्ति रखे जाते हैं । केन्द्रीय सचिवालय की पदोन्नति समिति में एक संसद-सदस्य को भी रखा जाता है । द्वितीय, विभागीय पदोन्नति मण्डल के फैसले को अन्तिम फैसला नहीं माना जाता है । यह केवल एक सिफारिश मात्र होती है जो लोक सेवा आयोग को भेज दी जाती है । तृतीय, जब किसी राज्य सेवा से भारतीय प्रशासनिक सेवा के लिए पदोन्नति करनी होती है तो इसके लिए हर राज्य में केन्द्रीय मूल व्यवस्था के तहत एक समिति का गठन किया जाता है जिसमें संघ लोक सेवा के अध्यक्ष या एक सदस्य और उसके वरिष्ठ कर्मचारी रखे जाते हैं । राज्य सेवा के उच्च पदाधिकारी भी इसके सदस्य होते हैं । यह समिति राज्य लोक सेवा के ऐसे अधिकारियों की सूची तैयार करती है जिनको पदोन्नति के लिए उपयुक्त समझा जाय । समिति राज्य सरकार के माध्यम से अपनी सिफारिश केन्द्र सरकार को भेजती है । कोई स्थान रिक्त होने पर इस सूची में से ही पदाधिकारियों को पदोन्नत करके भर्त्ती की जाती है ।

भारतीय पदोन्नति व्यवस्था की आलोचना—भारतीय पदोन्नति व्यवस्था में अनेक अवगुण पाये जाते हैं जिसके कारण इसकी आलोचना की जाती है :

(क) भारत में पदोन्नति के लिए योग्यता के सिद्धान्त को उचित महत्व नहीं प्रदान किया जाता है । व्यवहारत: अनेक बार इसका उल्लंघन होता है ।

(ख) भारत में निम्न स्तर के कर्मचारियों के लिए पदोन्नति के अवसर काफी सीमित होते हैं ।

(ग) भारतीय पदोन्नति व्यवस्था में बाहर के योगय प्रत्याशियों को स्थान नहीं दिया जाता है ।

(घ) पदोन्नति के लिए जो वार्षिक गुप्त प्रतिवेदन दर्ज किये जाते हैं, उनमें काफी पक्षपात किया जाता है ।

(छ) ऐसा कोई प्रशासनिक यंत्र उपलब्ध नहीं है जिसके माध्यम से प्रभावित कर्मचारी पदोन्नति सम्बंधी शिकायतों का फैसला करवा सके ।

पदोन्नति के सम्बंध में प्रशासनिक सुधार आयोग की सिफारिशें—प्रशासनिक सुधार आयोग के अप्रैल 1969 में अपना 11वाँ प्रतिवेदन प्रस्तुत किया था । इस प्रतिवेदन में आयोग ने सेवा-वर्ग प्रशासन के सम्बंध में निम्नलिखित मुख्य सिफारिशें की थीं :

(क) जिन विभागों में विभागीय पदोन्नति समिति विद्यमान नहीं है उनमें इनका गठन किया जाना चाहिए। इस समिति का अध्यक्ष उच्च अधिकारी होना चाहिए। इस समिति का एक सदस्य किसी दूसरे विभाग के ऐसे सदस्य को बनाना चाहिए जिसकी पदोन्नति का मामला विचाराधीन न हो।

(ख) वर्ष के अंत में स्वयं कर्मचारी को भी करीब 300 शब्दों में वर्ष भर में उसके द्वारा किये गये कार्यों का विवरण तैयार करने को कहा जाय। इस विवरण पर प्रतिवेदन देने वाले अधिकारी द्वारा अपनी टिप्पणी लिखकर अपने प्रतिवेदन के साथ समीक्षा करने वाले अधिकारी के समक्ष प्रस्तुत कर देनी चाहिए।

(ग) गोपनीय प्रतिवेदन पर केवल तीन ही प्रकार का श्रेणीकरण किया जाना चाहिए।

1. अवसर न होने पर भी पदोन्नति के योग्य।
2. पदोन्नति योग्य।
3. अभी पदोन्नति के योग्य नहीं है।

(च) तृतीय श्रेण से द्वितीय श्रेणी में पदोन्नति के लिए भी 50% पदों को भरने के लिए परीक्षाएं आयोजित की जानी चाहिए, शेष 50% पदों को भरने के लिए पदोन्नति के वर्तमान तरीकों को ही कायम रखना चाहिए।

12.6 सारांश

पदोन्नति से अर्थ, पद और स्तर में वृद्धि से है। पद और स्तर में वृद्धि के साथ सामान्यतः पारिश्रमिक में भी वृद्धि होती है। लोक सेवा व्यावसायिक सेवा है। इसका अर्थ है कि जो व्यक्ति सरकारी नौकरी करता है वह जीविकोपार्जन के रूप में उसे स्वीकार करता है अर्थात् समय के साथ-साथ संगठन और वरिष्ठता क्रम से सार्वजनिक कर्मचारी अपने कार्य के आधार पर आगे बढ़ता रहता है। अतः पदोन्नति लोक-सेवा का एक अभिन्न अंग है। लोक सेवा में पदोन्नति वरिष्ठता और या योग्यता पर आधारित होती है। परम्परा के अनुसार पदोन्नति निम्न स्तर के पदों पर, वरिष्ठता के आधार पर मध्य स्तर के पदों पर, वरिष्ठता सहित योग्यता के आधार पर और उच्चस्तरीय पदों पर योग्यता के आधार पर की जाती है। योग्यता के आधार पर पदोन्नति की प्रणाली को अंगीकार करने का अत्यन्त सक्षम कार्य के मूल्यांकन की प्रणाली की आवश्यकता है। कार्य की मूल्यांकन प्रणाली का वास्तविक उद्देश्य संगठन के उद्देश्यों की प्राप्ति की दृष्टि से संबंधित व्यक्ति की योग्यता का परीक्षण करना है। पदोन्नति का परीक्षण करना है। पदोन्नति प्रणाली के महत्व को देखते हुए यह आवश्यक है कि यह उपयुक्त होनी चाहिए। एक अच्छी पदोन्नति प्रणाली की स्थापना न होने से बुरे परिणाम निकलते हैं। सर्वप्रथम इसका भर्त्ती पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। अतः पदोन्नति की कर्मचारियों के लिए एक पुरस्कार अथवा संभावित पुरस्कार के रूप में सीधी सार्थकता हैं। वास्तविक पदोन्नति एक पुरस्कार है जबकि पदोन्नति का अवसर एक संभावित पुरस्कार है जो भविष्य की वस्तु है, लेकिन जो अत्यन्त महत्व का है।

12.7 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द

1. पदोन्नति
2. वरिष्ठता
3. योग्यता

12.8 अभ्यास के प्रश्न

(क) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. पदोन्नति क्या है ? पदोन्नति के विभिनन सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।

(ख) लघु उत्तरीय प्रश्न

1. **वरीयता के सिद्धान्त के गुण-दोष लिखिए ।**
2. **योग्यता के सिद्धान्त के गुण दोष लिखिए ।**

12.9 प्रस्तावित पाठ

1. विष्णु भगवान और विद्याभूषण : **लोक प्रशासन के सिद्धान्त,** एस० चांद एण्ड कम्पनी लिमिटेड
2. डॉ० एम० पी० शर्मा : **लोक प्रशासन सिद्धान्त एवं व्यवहार,** किताब महल
3. अवस्थी एवं महेश्वरी : **लोक प्रशासन,** लक्ष्मी नारायण अगवाल, आगरा-3

◆ ◆ ◆

मनोबल

पाठ-संरचना

13.0 उद्देश्य
13.1 विषय-प्रवेश
13.2 मनोबल का अर्थ
13.2.1 परिभाषा
13.2.2 मनोबल को प्रभावित करने वाले तत्व
13.2.3 उच्च मनोबल के परिणाम
13.2.4 निम्न मनोबल का परिणाम
13.3 सारांश
13.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द
13.5 अभ्यास के प्रश्न
13.6 प्रस्तावित पाठ

13.0 उद्देश्य

कार्यकुशलता या कार्यक्षमता ही प्रत्येक संस्था का, चाहे वह सार्वजनिक हो या निजी हो, मूल उद्देश्य होता है । कार्यकुशलता या दक्षता का अर्थ यह है कि न्यूनतम समय, न्यूनतम श्रम तथा वित्तीय एवं भौतिक साधनों से अधिकतम परिणाम प्राप्त किये जायें । दक्षता में विभिन्न सहायक तत्वों तथा युक्तियों से वृद्धि की जा सकती है । ये सहायक तत्व या युक्तियाँ दो वर्गों में विभाजित की जाती हैं : वस्तुपरक तथा विषयपरक । विषयपरक सहायता बौद्धिक या भावनात्मक होती है, तथा वस्तुपरक सहायता कर्मचारी के व्यक्तित्व या बाह्य सुविधाओं से संबंधित होती है । लोक सेवक जिस संगठन में कार्य करता है, उसके प्रति उसकी उत्साही प्रवृत्ति ही मनोबल है । मनोबल व्यक्ति की एक मानसिक स्थिति है । इस लेशन प्लान का उद्देश्य यह बताना है कि मनोबल क्या है, लोक सेवकों के मनोबल को कैसे बढ़ाया जा सकता है और उच्च मनोबल के क्या-क्या परिणाम होते हैं । साथ ही साथ यह भी बताने की कोशिश की जाएगी कि निम्न मनोबल के क्या परिणाम हो सकते हैं । अन्त में सारांश दिया जाएगा । इसी संदर्भ में कुछ कठिन शब्द दिए जाएंगे और अभ्यास के लिए प्रश्न भी पूछे जाएंगे ।

13.1 विषय प्रवेश

मनोबल किसी व्यक्ति की वह मानसिक स्थिति है जो वह अपनी संस्था और अपने कार्य के प्रति रखता है । यह उसकी या एक समूह के व्यक्तयों की आन्तरिक स्थिति है । एक व्यक्ति का मनोबल ऊंचा बोला जाता

है, अगर वह अपना कार्य सिर्फ वेतन के लिए नहीं करता है, अपितु उस काम को करके वह आत्म-संतुष्टि प्राप्त करता है । यह प्रकृति उस व्यक्ति में तब आती है जब उसे अपना कार्य महत्वपूर्ण लगता है और वह अपने कार्य को आत्मसात् कर लेता है । ऊंचा मनोबल कार्यक्षमता को बढ़ाता है और सफलता की ओर व्यक्ति को अग्रसर करता है ।

13.2 मनोबल का अर्थ

13.2.1 परिभाषा

लोक-सेवक जिस संगठन में कार्य करता है, उसके प्रति उसकी उत्साही प्रवृत्ति ही मनोबल है । मनोबल व्यक्ति की एक मानसिक स्थिति है । लोक-सेवकों का मनोबल ही सम्बन्धित संगठन की जीवन-शक्ति मानी जाती है । प्रशासन की शक्ति लोक-सेवकों के मनोबल में निहित होती है और लोक-सेवकों की शक्ति उनके अपने उत्साह में निहित होती है । मनोबल की शक्ति के अभाव में प्रशासनिक क्रियाएं सही ढंग से संचालित नहीं होती हैं । आज के वर्तमान समय में जब प्रशासन में मानवीय सम्बंधों और मनोवैज्ञानिक दशाओं पर बल दिया जा रहा है तो मनोबल का महत्व और भी बढ़ जाता है । यदि कर्मचारियों का मनोबल ऊंचा है तो वे बड़े-बड़े कार्य को भी अपने उत्साह के साथ आसानी से सम्पन्न कर लेते हैं । परन्तु यदि कर्मचारियों का मनोबल टूटा हुआ और कमजोर है तो पूरे संगठन को निर्बल बना देता है तथा उद्देश्यों की प्राप्ति में प्रश्न-चिन्ह लगा देता है । संगठन की सफलता के लिए कर्मचारियों के ऊँचे मनोबल की अत्यधिक आवश्यकता है ।

चेस्टर बर्नार्ड ने कहा है कि ''मनोबल एक तरह से स्वप्रेरित प्रेरणा है जो कार्यकर्त्ताओं के दिल और दिमाग में बनती है ।''

एल. डी. व्हाइट ने कहा है कि ''मनोबल एक व्यक्ति अथवा एक समूह की अन्तर्निहित सम्पत्ति है ।''

डिमॉक ने बताया है कि ''मनोबल विभिन्न तत्वों का वह सम्मिश्रण है जो एक ऐसी स्वस्थ एवं सन्तुलित स्थिति उत्पन्न करता है जिसमें व्यक्ति आत्मप्रतिष्ठा एवं व्यक्तिगत विकास के अवसरों के साथ काम कर सके ।''

जे.डी. मुने ने मनोबल की परिभाषा देते हुए बताया है कि ''मनोबल मनोवैज्ञानिक गुणों का योग है जिसमें साहस, पौरुष, विश्वास, निश्चय इत्यादि सम्मिलित हैं ।

एलेक्जैण्डर लाइटन ने मनोबल को सामूहिक लक्ष्य के सन्दर्भ में देखने का प्रयास किया है । उसके अनुसार ''मनोबल व्यक्तियों के सामूहिक लक्ष्य की खोज में धैर्य के साथ एवं लगातार एक साथ चलने की क्षमता है ।''

एम० एम० मार्क्स ने इसे बौद्धिक तथा भावात्मक दोनों धरातलों पर लाकर खड़ा किया है । उसकी मान्यता है कि ''उच्चतम मनोबल में बौद्धिक तथा भावात्मक दोनों गुण होते हैं । इसका बौद्धिक गुण-ज्ञान, सूझ-बूझ, तथा पारस्परिक विचार-विमर्श पर बल देने से पैदा होता है, और ये तीनों विशेषताएँ संस्थागत चिन्तन, नियोजन एवं मूल्यांकन क्रियाओं के सच्चे दिल से भाग लेने पर निर्भर करती हैं तथा इस उत्साह एवं मनोबल को गतिशीलता प्रदान करती हैं ।''

मनोबल की सबसे सार्थक और स्पष्ट परिभाषा थियों हेमेन के द्वारा दी गयी है-''मनोबल को मन और भावनाओं की स्थिति के रूप में परिभाषित किया जा सकता है, जो कार्य करने के लिए उस दृष्टिकोण एवं इच्छाशक्ति को प्रभावित करती है, जिसके द्वारा व्यक्तिगत एवं संगठानत्मक लक्ष्य प्रभावित होते हैं । यह व्यक्तियों एवं समूहों का उनके कार्य के वातावरण, प्रबन्ध तथा संस्था के प्रति दृष्टिकोण है । मनोबल एक मिश्रण है, कोई एक भावना नहीं है । यह भावनाओं, स्थायी भावों एवं दृष्टिकोण का संग्रह है ।

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर मनोबल की निम्नलिखित प्रकृति और अर्थ उभरकर सामने आती है :

1. मनोबल एक मानसिक स्थिति है ।
2. मनोबल मनुष्य की उच्च इच्छाशक्ति की अभिव्यक्ति है ।
3. मनोबल समस्त मनोवैज्ञानिक गुणों का मिश्रण है ।
4. मनोबल व्यक्तियों के समूह का सम्पूर्ण योग भी हो सकता है, जो एक सथ मिलकर कार्य करते हैं ।
5. व्यक्ति समूह का सम्पूर्ण व्यवहार एक निश्चित लक्ष्य करने के लिए संचालित किया जाता है ।
6. संगठन के सदस्यों का नेतृत्व में विश्वास होता है और नेतृत्व में उनमी आस्था रखता है ।
7. मनोबल उत्साह, भावना, विश्वास, आशा आदि मानसिक तत्वों पर आधारित है ।

13.2.2 मनोबल को प्रभावित करने वाले तत्व

किसी भी संगठन की सफलता के लिए मनोबल का होना आवश्यक है । कर्मचारियों का मनोबल जितना ही ऊँचा रहेगा, उतना ही कर्मचारी अधिक कार्य करेगा । यदि कर्मचारियों का मनोबल नीचे गिरता है तो कर्मचारी अच्छे कार्य को भी हीन भावना से करते हैं, क्योंकि वे अपनी सफलता के प्रति हमेशा सशंकित रहते हैं । नेपोलियन ने तो यहाँ तक कहा है कि युद्ध में विजय प्राप्ति का 75% श्रेय मनोबल को दिया जाना चाहिए । मनोबल को ऊँचा रखने के लिए अनेक साधन प्रयोग में लाये जाते हैं जो मुख्य रूप से निम्नलिखित हैं :

1. संगठन के उद्देश्यों का ज्ञान—संगठन में उच्च मनोबल की स्थापना के लिए यह आवश्यक है कि उसके सभी कर्मचारी संगठन के उद्देश्यों और लक्ष्यों से परिचित हों । किसी भी संगठन के लक्ष्यहीन प्रयास में कर्मचारियों में प्रभावशीलता, उत्साह एवं व्यक्तिगत रुचि का विकास नहीं हो सकता है । कर्मचारियों को इस बात का पता होना चाहिए कि उनका कार्य संगठन के लक्ष्यों को प्राप्त करने में कहाँ तक सहायक है । यदि संगठन की नीतियों और उद्देश्यों के बारे में भलीभाँति जानते रहते हैं तो वे संगठन के प्रति अपनत्व सा महसूस करते हैं ।

2. नीति-निर्माण में सहभागिता—कर्मचारियों को संगठन नीति-निर्माण में सहभागी बनाया जाना चाहिए या कम से कम संगठन द्वारा लिये जाने वाले महत्वपूर्ण निर्णयों में उनकी राय अवश्य ली जानी चाहिए । उनमें इस बात की भावना का विकास होना आवश्यक है कि वे भी संगठन के अभिन्न अंग हैं और संगठन के चलाने में उनका भी हाथ है । उनको ऐसा महसूस होना चाहिए कि उन पर ही संगठन के संचालन का उत्तरदायित्व है । दायित्व का यह भार उनको गम्भीरता प्रदान करता है । संगठन के कर्मचारी जब यह अनुभव करने लगें कि संगठन में उनका भी कुछ महत्व है और उच्च अधिकारी उनके सुझावों को महत्व प्रदान करते हैं, तो स्वाभाविक रूप से उनका मनोबल ऊँचा हो जाता है ।

3. लोक-सेवकों द्वारा किये जाने वाले कार्यों को मान्यता—प्रत्येक व्यक्ति में यह स्वाभाविक गुण पाया जाता है कि वह अपने कार्यों की मान्यता और सराहना का इच्छुक होता है । डॉ० एल० डी० ह्वाइट की भी यह मान्यता है कि उच्च मनोबल मूलत: उस विश्वास के साथ जुड़ा होता है जिसके कारण प्रत्येक व्यक्ति अपने कार्य को महत्वपूर्ण एवं मूल्यवान मानता है । इस विश्वास का विकास करना प्रबंध का महत्वपूर्ण दायित्व है जिसे केवल अवसर पर नहीं छोड़ा जा सकता है । यदि कर्मचारी द्वारा किये जा रहे कार्यों की प्रशंसा कर दी जाती है तथा उसे अत्यन्त ही महत्वपूर्ण बता दिया जाता है तो वह अपने को पुरस्कृत समझने लगता है तथा उसका मनोबल ऊँचा उठ जाता है ।

4. लोक-सेवकों की सही कार्य-दिशाएँ—लोक-सेवकों के मनोबल में विकास के लिए इन्हें संगठन में कार्य करने हेतु इन्हें अच्छी कार्य-दिशाएँ तथा प्रतिफल प्रदान किया जाना चाहिए । सेवा की कार्य-दिशाएँ यदि आकर्षित करने वाली होंगी तो कर्मचारी उत्साह से कार्य करेंगे । कर्मचारियों को अच्छा वेतन देना चाहिए क्योंकि इसके अभाव में न तो वे अपनी व्यक्तिगत और पारिवारिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकेंगे और न ही मानसिक शक्ति और उत्साह को ले सकेंगे । उन्हें आकर्षक भत्ते, अवकाश तथा अन्य प्रकार की सुविधाएँ प्रदान

की जानी चाहिए । इन सबसे महत्वपूर्ण यह है कि सेवा में उन्नति और पदोन्नति के पर्याप्त अवसर होने चाहिए ताकि उसे यह अहसास होता रहे कि भविष्य में आगे बढ़ने के काफी अवसर है । ज्यों-ज्यों संगठन में वह उन्नति करता जाता है, त्यों-त्यों उसका मनोबल और ऊपर उठता जाता है ।

5. उच्चाधिकारी में विश्वास—अविश्वास कभी-भी अच्छी मानसिकता का परिचायक नहीं हो सकता है । संगठन में लोक-सेवकों का मनोबल तभी ऊँचा रह सकता है जब उन्हें अपने उच्च अधिकारियों की निष्पक्षता, ईमानदारी एवें न्यायप्रियता में पूर्ण विश्वास हो । उन्हें सदैव यह मानकर चलना चाहिए कि उनके उच्च अधिकारी जो भी निर्णय लेते हैं वह संगठन की भलाई के लिए आवश्यक होता है तथा वह संगठन के हित में हैं । इस विश्वास के विपरीत जब उन्हें मन में यह अविश्वास उपजने लगेगा कि संगठन के अधिकारी द्वारा लिया जाने वाला निर्णय व्यक्तिगत स्वार्थ और पक्षपात से पूर्ण होता है तो पूरे संगठन में अविश्वास पल जाता है और मनोबल बढ़ने के बजाय घटने लगता है ।

6. प्रेरणादायक नेतृत्व—प्रेरणादायक एवं कुशल नेतृत्व कर्मचारियों के मनोबल को उन्नत करने में अत्यन्त ही सहायक सिद्ध होता है । संगठन के नेता को अपने व्यवहार द्वारा आदेश प्रस्तुत करना चाहिए । एक कुशल नेता अपने व्यक्तिगत एवं प्रभाव के द्वारा अपने साथियों तथा अधिनस्थों को काफी गइराई तक प्रभावित करता है । अपने संगठन के सभी सदस्यों की बातों को वह ध्यानपूर्वक सुनता है, उनकी समस्याओं को महत्वपूर्ण मानता है तथा अनौपचारिक ढंग से भी उसके सुख-दु:ख में हाथ बटाता है । जो अधिकारी अपने अधीनस्थों को आदेश देने की बजाय उनका पथ प्रदर्शन करता है, उन्हें आतंकित करने व परेशान करने के स्थान पर उत्साहित करता है, और कार्य को एक भारी बोझ बनाने के बदले कार्य में आनन्द पैदा करता है । वह कर्मचारियों के मनोबल को काफी ऊँचा उठा देता है ।

7. मानवीय सम्बन्धों का विकास—साधारणतया यह माना जाता है कि उच्च अधिकारियों एवं अधीनस्थ कर्मचारियों के मध्य मात्र औपचारिक सम्बध होते हैं जो नियमों और विनियमों से जकड़े होते हैं लेकिन संगठन में अच्छे मनोबल को बनाये रखने के लिए अनौपचारिक सम्बन्धों और मानवीय सम्बन्धों की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है । अगर एक गरीब चपरासी की बेटी की शादी में उस कार्यलय का उच्चाधिकारी जो जिलाधीश, गृहसचिव, मंत्री या मुख्य मंत्री कुछ भी हो, आशीर्वाद देने हेतु पहुँच जाता है तो इससे न सिर्फ मनावीय संबन्धों का विकास होता है बल्कि अधीनस्थ कर्मचारी का मनोबल काफी ऊँचा उठ जाता है तथा वह अपने को महत्वपूर्ण समझने लगता है । संगठन के सदस्यों के बीच जब मानवीय और भावनात्मक सम्बन्धों का विकास हो जाता है तब पूरा संगठन अपने आप में काफी मजबूत हो जाता है ।

8. कार्मिक निष्ठा—उच्च मनोबल के लिए किस तरह अधीनस्थों का अपने अधिकारियों की निष्पक्षता, न्यायप्रियता तथा तथा निर्णयों में विश्वास आवश्यक है, ठीक उसी प्रकार उच्च अधिकारियों में अपने कार्मिकों के प्रति निष्ठा और विश्वास का होना भी आवश्यक है । उच्च अधिकारी को अपने अधीनस्थों के साथ इस प्रकार व्यवहार करना चाहिए कि वे किसी शंका के उन्हें अपना संरक्षक मान लें । कार्मिकों के प्रति उन्हें आपस में कोई राजनीतिक, धार्मिक और जातिगत आधार लेकर पक्षपात नहीं करना चाहिए । अधीनस्थ कर्मचारियों द्वारा किये गये कार्यों के प्रति विश्वास प्रकट करना चाहिए तथा अधिक से अधिक उनके समस्याओं पर ध्यान देना चाहिए । कार्मिक निष्ठा ही सच्चे अर्थों में विश्वास का एक महत्वपूर्ण पुल है जो उच्च अधिकारी और अधीनस्थ कर्मचारी को आपस में जोड़ता है ।

उपर्युक्त साधनों कें द्वारा ही लोक-सेवकों के मनोबल को ऊँचा रखा जा सकता है । इस बात का हमेशा ध्यान रखा जाना चाहिए कि मनोबल संगठन की वह शक्ति है जो उसे अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने में उत्साह आत्मविश्वास और गौरव प्रदान करती है । एक अच्छे और सफल संगठन के निर्माण में ऊँचे मनोबल का महत्वपूर्ण योगदान होता है ।

एडविन बी० फिलिपों ने अपनी पुस्तक में मनोबल को प्रभावित करने वाले दस प्रमुख घटकों की चर्चा की है :

1. वेतन
2. सुरक्षा
3. कार्य-दिवस
4. अवसर
5. उचित एवं योग्य नेतृत्व
6. किये जाने वाले कार्य की प्रंशसा
7. सहयोगियों की अनुकूलता
8. उचित सक्रियता
9. कर्मचारी के लाभ
10. सामाजिक प्रतिष्ठा

13.2.3 उच्च मनोबल के परिणाम

उच्च मनोबल संगठन की एकता-शक्ति, उच्च इच्छा-शक्ति तथा अनुशासन का परिचायक होता है । डेलयीडर ने उच्च मनोबल को कर्मचारी अथवा श्रमिक समूह की उस मानसिक अवस्था से सम्बद्ध माना है जो समूह गतिविधियों तथा समूह कार्यों के प्रति उत्साही ओर मैत्रीपूर्ण दृष्टिगत होती है । इसके विपरीत, यदि समूह असंतुष्ट, आलोचक, क्षुब्ध अथवा निराशावादी हो तो उसके निम्न मनोबल का सूचक है । लोक-सेवकों के उच्च मनोबल के निम्नलिखित परिणाम सामने आते हैं :

1. कर्मचारियों द्वारा अधिक परिश्रम—रेग्सिस लिकर्ट का कहना है कि मनोबल तथा उत्पादन में प्रत्यक्ष सम्बन्ध है । "मनोबल का जो भी स्तर होगा, उत्पादन भी उसी अनुपात में होगा ।" कर्मचारियों का मनोबल जितना ऊँचा रहता है उतना ही कर्मचारी अधिक परिश्रम करते हैं । फलतः इसका प्रत्यक्ष प्रभाव संगठन पर पड़ता है और संगठन में कार्यकुशलता बढ़ती है ।

2. आत्मसम्मान की भावना—उच्चे मनोबल के परिणामस्वरूप कर्मचारियों में आत्मसम्मान तथा आत्म गौरव की भावना का विकास होता है जो अप्रत्यक्ष रूप से संगठन और गौरव के रूप में परिणत हो जाता है । कर्मचारी बड़ी शान से अपने संगठन की प्रशंसा करते हैं तथा उनकी उपलब्धियों का बखान करते हैं । यदि मनोबल नीचे गिरता है तो स्वयं के द्वारा किये जाने वाले कार्य के प्रति उसमें हीनता की भावना आने लगती है तथा मन लगाकर अपने कार्यों को वह नहीं कर पाता है ।

3. मानवशक्ति का अधिकतम उपयोग—उच्च मनोबल के परिणामस्वरूप मानवशक्ति का नियोजन तथा उनका अधिकतम उपयोग सम्भव हो पाता है । पिछली सफलताएँ इस बात के लिए उन्हें उत्साहित करती हैं कि उनके अन्दर मौजूद क्षमता और योग्यता बड़े से बड़े कार्य के लिए भी उपयुक्त है । स्वयं के अन्दर निहित क्षमता का आभास होने से वे अपने को शक्तिशाली अनुभव करने लगते हैं ।

4. राजभक्ति (निष्ठा)—उच्च मनोबल से नियोक्ता और कर्मचारियों के मध्य अच्छे सम्बन्धों का विकास होता है । संगठन के कर्मचारी अपने नेतृत्व के आदेशों का पालन करते हैं तथा उनके प्रति अपनी निष्ठा बनाये रखते हैं । वरिष्ठ अधिकरियों के प्रति विश्वास और आदर की इस भावना से संगठन भी ऊँचा उठ जाता है ।

5. सहयोग की भावना का विकास—ऊँचे मनोबल की वजह से संगठन के कर्मचारियों के मध्य सहयोग की भावना का विकास होता है । सामूहिक कार्य के द्वारा वे अपने उद्देश्यों को एकजुट होकर प्राप्त करने का प्रयास करते हैं । कर्मचारियों का हित सम्मान है और सामूहिक प्रयत्न के द्वारा इस संगठन को ऊँचा उठाना है ।

6. अनुशासन एवं उल्लास—श्रेष्ठ मनोबल कभी भी अराजकता, अव्यवस्था तथा अन्याय का परिचायक नहीं हो सकता है । श्रेष्ठ मनोबल के द्वारा संगठन में एकता, अनुशासन, न्याय और व्यवस्था कायम रहती है ।

एक साथ मिलकर लक्ष्यों को प्राप्त करने का उत्साह, उमंग और उल्लास रहता है । मनोबल एक ऐसी प्रेरक शक्ति है जिससे कर्मचारियों में सदैव उत्साह और उमंग बनी रहती है ।

7. सृजनात्मक और रचनात्मक सहयोग–श्रेष्ठ और ऊँचे मनोबल के परिणामस्वरूप कर्मचारियों में सृजनात्मक सहयोग की भावना का विकास होता है । वे हमेशा इस बात के लिए प्रयत्नशील रहते हैं कि किस प्रकार संगठन के लिए अच्छे से अच्छा परिणाम उपलब्ध किया जा सकता है । इसके लिए उनके मन में हमेशा रचनात्मक सहयोग की भावना रहती है । इसके विपरीत, निम्न मनोबल विनाशकारी विचार को जन्म देने लगता है जो संगठन के मार्ग में बाधा बनकर खड़ा हो जाता है । अतः श्रेष्ठ मन में ही श्रेष्ठ विचार आ सकते हैं तथा निम्न मन में निम्न विचार आते हैं ।

13.2.4 निम्न मनोबल के परिणाम

जिस प्रकार उच्च मनोबल के अनेक अच्छे परिणाम सामने आते हैं, ठीक विपरीत निम्न मनोबल न सिर्फ व्यक्ति के लिए बल्कि पूरे संगठन के लिए अनेक प्रकार के दुष्परिणामों को जन्म देता है । निम्न मनोबल अपने आप में एक असफलता और मानसिक, कुण्ठा है । इसके निम्नलिखित दुष्परिणाम होते हैं :

1. निम्न मनोबल से कर्मचारियों में अकार्यकुशलता तथा उदासीनता आती है जो संगठन के लिए हानिप्रद होती है ।

2. निम्न मनोबल से मानव-शक्ति का कुप्रयोग और श्रमशक्ति का अपव्यय होता है ।

3. मनोबल गिरने से उत्पादकता में काफी कमी आती है ।

4. मनोबल गिरने से कर्मचारियों में हीन भावना, कुण्ठा और आलस्य आ जाता है ।

5. मनोबल गिरने से कर्मचारियों में अनावश्यक छुट्टी लेने की भावना बढ़ती है तथा संगठन में अनुपस्थितियाँ ज्यादा होने लगती हैं ।

6. मनोबल के टूटने से कम्रचारियों में आपसी मानवीय सम्बन्धों तथा साहसपूर्ण सम्बन्धों का अभाव हो जाता है और उनके अन्दर आपसी वैमनस्य बढ़ने लगता है ।

7. निम्न मनोबल से संगठन में अनुशासन और एकता की जगह अराजकता और अव्यवस्था फैलने लगती है । सभी एक-दूसरे को शंका की निगाह से देखने लगते हैं ।

8. निम्न मनोबल के चलते विभागीय नियमों और विनियमों को लागू करने में बाधा पहुँचती है तथा नियोक्ता और कर्मचारी के मध्य खाई बढ़ती है जिसका अन्तिम परिणाम हड़ताल, आन्दोलन तथा कार्य में अड़चन इत्यादि होती है ।

उच्च मनोबल के परिणामों और निम्न मनोबल के दुष्परिणामों को देखने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि मनोबल प्रशासकीय व्यवहार की प्रेरक शक्ति है । यह संगठन की जीवन-शक्ति है । किसी भी संगठन के लिए मनोबल एक ऐसी मानसिक शक्ति है जो संगठन को सफलता की ओर अग्रसर करती है । लेटन ने भी कहा है कि "मनोबल व्यक्तियों के समूह की ऐसी क्षमता है जो सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु निरंतर एवं अडिग कार्य करने को प्रेरित करती है ।" मनोबल कर्मचारियों की शक्ति, विश्वास, स्वाभिमान, गौरव, उत्साह और लगन का प्रतीक है । जिस संगठन को उपर्युक्त सभी गुण प्राप्त हो जाते हैं उस संगठन की सफलता में चार चांद लग जाते हैं ।

13.3 सारांश

मनोबल का तात्पर्य राज सेवी की मनोबल या आवेक्षण से है । ठीक सेवाओं तथा कर्तव्यों एवं विभागों के प्रति सेवियों की क्या भावना है, इससे उनके सामान्य उत्साह का अनुमान होता है । मनोबल लोक सेवक की

आभ्यंतरिक अवस्था है । जब कर्त्ता को अपने काम में आनन्द मिलता है, उसको सम्पन्न करने में उसको आत्मसंतुष्टि होती है, और वह समझता है कि वह अपने जीवन को पूर्ण और सफल बना रहा है । तब उसका उत्साह ऊँचा माना जाता है । इस भाव से उसी समय वह अपने कार्य को मूल्यवान तथा महत्वपूर्ण समझता है । वह समझता है कि उसका कार्य समाज तथा देश के हित के लिए है । ज्यों-ज्यों कर्त्ता विभाग के महत्व को समझता है उसके गठन के प्रयोजन की गहराई में जाता है और उससे ममता अनुभव करता है, त्यों-त्यों उसका मनोबल बढ़ता जाता है । लोक सेवक के मनोबल को बढ़ाने के लिए बहुत तत्व उत्तरदायी हैं । सबसे पहले तो लोक सेवक की घरेलू स्थिति अच्छी और संतोषप्रद हो । यदि कर्त्ता चिन्ता ग्रस्त हो तो उसके उत्साह में कमी आएगी, इसलिए पर्याप्त वेतन मिलने चाहिए । दूसरा तत्व पद की स्थिरता एवं सुरक्षा है । तीसरा कर्त्ता भली प्रकार समझे कि उसके विभाग का क्या प्रयोजन है । चौथा, संस्था के नीति-निर्धारण में उसका भी योगदान है । पाँचवा तत्व कर्मचारियों का यह विश्वास है कि उनके उच्चाधिकारी न्यायप्रिय हों, छठा तत्व है पदोन्नति की सही पद्धति अपनायी जाये और अन्तिम तत्व नैतिक प्रशिक्षण है । अन्त में स्वास्थ्य की भाँति मनोबल धीरे-धीरे और उत्कृष्टता से बढ़ता है ।

13.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द

1. मनोबल
2. पदोन्नति
3. नीति-निर्माण
4. प्रेरणादायक नेतृत्व
5. कार्मिक निष्ठा

13.5 अभ्यास के प्रश्न

(क) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. **सरकारी सेवाओं में मनोबल के महत्व की व्याख्या कीजिए । इसके मुख्य अवयव क्या हैं ? मनोबल को कैसे बनाये रखा जाता है ?**
2. **लोक-सेवकों के मनोबल की समस्या पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखें ।**

(ख) लघु उत्तरीय प्रश्न

1. **उच्च मनोबल पर टिप्पणी लिखें ।**
2. **निम्न मनोबल पर टिप्पणी लिखें ।**

13.6 प्रस्तावित पाठ

1. अवस्थी और महेश्वरी : **लोक प्रशासन,** लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा-3
2. डॉ० महादेव प्रसाद शर्मा : **लोक प्रशासन सिद्धांत एवं व्यवहार,** किताब महल
3. विष्णु भगवान एवं विद्याभूषण : **लोक प्रशासन के सिद्धांत,** एस० चांद एण्ड कम्पनी लिमिटेड

◆◆◆

प्रशासन पर विधायी नियंत्रण

पाठ-संरचना

14.0 उद्देश्य
14.1 विषय प्रवेश
14.2 प्रशासन पर नियन्त्रण का अर्थ
14.3 प्रशासन पर विधायी नियन्त्रण
14.3.1 संसदीय प्रणाली में विधायी नियन्त्रण
14.3.2 अध्यक्षात्मक प्रणाली में विधायी नियन्त्रण
14.3.3 संसदीय नियन्त्रण की समस्याएँ एवं सीमाएं
14.4 सारांश
14.5 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द
14.6 अभ्यास के प्रश्न
14.7 प्रस्तावित पाठ

14.0 उद्देश्य

आज का आधुनिक राज्य लोक-कल्याणकारी राज्य है । राज्य ने लोक-सेवकों के द्वारा अपने नागरिकों को अपने ऊपर अधिक से अधिक निर्भर बना लिया है । राज्य के ऊपर बढ़ते हुए कार्यों के बोझ ने प्रशासकीय शक्ति में स्वाभाविक रूप से विस्तार किया है । प्रशासन असीमित शक्तियों का केन्द्र बन गया है । लोक प्रशासन और उसका सेवी-वर्ग अपनी शक्तियों का दुरुपयोग न करें, निरंकुश और अनुत्तरदायी न बनें, इसके लिए यह आवश्यक है कि उनकी शक्तियों को नियंत्रित किया जाय और उनपर अंकुश रखा जाए । एक प्रजातान्त्रिक समाज में शक्ति पर नियंत्रण रहना आवश्यक है । शक्ति जितनी ही बड़ी होगी उस पर नियंत्रण की आवश्यकता उतनी ही होगी । स्पष्ट उद्देश्यों के लिए पर्याप्त अधिकार कैसे समाहित किये जायें और सत्ता को पंगु किये बिना कैसे समुचित नियंत्रण बनाये रखा जाय, यह लोकप्रिय सरकार के सामने एक ऐतिहासिक उलझन है । जनतंत्र में प्रशासन का संचालन जन-हित के लिए जनता की सहमति से किया जाता है । अतः यह आवश्यक है कि प्रशासन जनता के प्रति प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उत्तरदायी है । वस्तुतः लोक प्रशासन पर नियंत्रण की अनिवार्यता से इन्कार नहीं किया जा सकता है । मुख्य रूप से लोक-प्रशासन पर तीन प्रकार के नियंत्रण स्थापित किये जाते हैं । 1. विधायी नियंत्रण 2. कार्यपालिका नियंत्रण 3. न्यायिक नियंत्रण । इस लेशन प्लान का उद्देश्य यह बताना है कि प्रशासन पर विधायी नियंत्रण की प्रकृति क्यों होती है । इसी संदर्भ में इस बात की विवेचना होगी कि

संसदीय व्यवस्था और अध्यक्षात्मक व्यवस्था में विधायी नियंत्रण का क्या-क्या प्रभाव पड़ता है । अंत में सारांश दिया जाएगा । साथ-साथ कुछ कठिन शब्द और कुछ अभ्यास के लिए प्रश्न दिये जाएंगे ।

14.1 विषय प्रवेश

विधायिका जन-प्रतिनिधि संस्था होती है जो जनता की इच्छाओं को कानून के रूप में व्यक्त करती है । संसदीय प्रणाली में तो कार्य-पालिका सामूहिक रूप से व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है, विचार-विमर्श करती है और साथ-ही-साथ प्रशासन पर नियंत्रण रखने का भी काम करती है । जनता के प्रतिनिधि व्यवस्थापिका में होते हुए, जनता की इच्छा और आवश्यकता को ध्यान में रखकर नीतियों को निर्धारित करते हैं और व्यवस्थापिका द्वारा निर्धारित नीतियों का कार्यान्वयन कार्यपालिका के द्वारा कर लिया जाता है । अतएव विद्यायिका के लिए यह अनिवार्य हो जाता है कि वह देखे कि लोक प्रशासन सार्वजनिक नीतियों को सही ढंग से कार्यान्वित कर पा रहे हैं अथवा नहीं । लोकतंत्र में लोक प्रशासन विधायिका के प्रति अनिवार्य रूप से उत्तरदायी होता है । विधायिका के नियंत्रण को संसदीय नियंत्रण की भी संज्ञा दी जाती है क्योंकि शासन की चाहे कोई भी प्रणाली क्यों न हो (संसदात्मक हो या अध्यक्षात्मक) प्रशासन पर संसद का किसी न किसी रूप में नियंत्रण अवश्य रहता है । लेकिन जहाँ संसदीय शासन पद्धति को अपनाया गया है वहाँ यह नियंत्रण और भी महत्वपूर्ण हो जाता है ।

14.2 प्रशासन पर नियंत्रण का अर्थ

आधुनिक कल्याणकारी राज्यों में सरकारी कर्मचारियों का महत्वपूर्ण स्थान है । आज लोक सेवी वर्ग केवल लोक नीति को ही क्रियान्वित नहीं करता है बल्कि उसे आरम्भ भी करता है तथा उसका निर्माण भी करता है । वास्तव में वह प्रशासन की आधारशिला है । वह प्रशासन को विशेष ज्ञान प्रदान करता है और विशेषज्ञ होने के नाते प्रशासन पर नियंत्रण करता है । उन कार्यों को करने के लिए सेवी वर्ग के पास अनेक स्वेच्छाचारी शक्तियाँ भी होती हैं और विशेषज्ञ होने के नाते वह राजनीतिक संरचना पर भी प्रभाव डालता है । इसलिए यह आवश्यक हो जाता है कि ऐसे साधनों को अपनाया जाये जिससे सेवी वर्ग नियंत्रण में रहे, क्योंकि नियंत्रण के अभाव में अनुत्तरदायी तथा निरंकुश बनने की प्रवृत्ति आ सकती है । प्रशासन जन-कल्याण का साधन है । जनता की सदैव यह रुचि रहती है कि लोक प्रशासन उत्तरदायी और निपुण रहे । लोक अधिकारियों को सत्ताधारी के समक्ष उत्तरदायी होना चाहिए । उनका यह दायित्व होना चाहिए कि वे अपनी शक्तिया प्रयोग का पूर्ण ब्योरा दें । उन्हीं कारणों की वजह से कुछ ऐसे नियंत्रण होते हैं जिनके द्वारा प्रशासन का उत्तरदायित्व लागू किया जाता है ।

मोटे तौर पर दो प्रकार के नियन्त्रण प्रमुख हैं :

1. बाह्य (राजनीतिक) नियन्त्रण तथा (2) आंतरिक या (प्रशासकीय) नियन्त्रण । बाह्य नियन्त्रण प्रशासनिक ढांचे के बाहर से लागू किये जाते हैं । ये नियन्त्रण संवैधानिक सीमाओं के भीतर कार्य करते हैं और ये विभिन्न देशों में विभिन्न प्रकार के होते हैं । आंतरिक नियन्त्रण वे होते हैं जो प्रशासन में निहित होते हैं । इनको प्रशासनिक ढांचे में इस प्रकार से जोड़ा जाता है कि ये प्रशासन की गति के साथ अपने आप कार्य करते हैं ।

प्रशासन पर बाह्य नियन्त्रण को चार प्रमुख दृष्टिकोणों से अध्ययन किया जा सकता है : कार्यपालिका का नियन्त्रण, व्यवस्थापिका का नियन्त्रण, न्यायपालिका का नियन्त्रण एवं जनता का नियन्त्रण ।

14.3 प्रशासन पर विधायी नियन्त्रण

सभी प्रणालियों में, चाहे व संसदात्मक हो या अध्यक्षात्मक, संसद का प्रशासन पर नियन्त्रण बड़ा महत्वपूर्ण है । भारत तथा इंगलैड जहाँ संसदीय प्रणाली है, ऐसे देशों में इसका महत्व और भी बढ़ जाता है क्योंकि राज्य

की समस्त गतिविधियों का प्रारम्भ व्यवस्थापिका से होता है । संसदीय प्रणाली का प्रमुख सिद्धांत कार्यपालिका का संसद के प्रति उत्तरदायित्व है । अतएव कार्यपालिका व्यवस्थापिका की ओर से उदासीन नहीं हो सकती । यह सेवी वर्ग के प्रत्येक कार्य के लिए संसद के प्रति उत्तरदायी है । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रशासन का संसद के सम्मुख उत्तरादायित्व कार्यपलिका के माध्यम से लागू हेाता है । किसी सरकारी अधिकारी को उसके द्वारा किये गये कार्य की जवाबदेही के लिये उसे संसद के सामने नहीं बुलाया जा सकता । विभाग के समस्त प्रशासकीय कार्यों का उत्तरदायित्व मंत्री पर होता है । यदि वह अपने उत्तर द्वारा, संसद को संतुष्ट नहीं कर सकता तो उसे त्यागपत्र देना पड़ता है । कई बार तो मंत्रिमण्डल को ही पद त्याग देना पड़ता है, क्योंकि संसदीय प्रणाली में मंत्रिमण्डल का सामूहिक उत्तरदायित्व होता है । इस प्रकार हम देखते हैं कि व्यवस्थापिका का प्रशासन पर नियंत्रण अप्रत्यक्ष है अर्थात् कार्यपालिका के माध्यम से ।

14.3.1 संसदीय प्रणाली में विधायी नियंत्रण

संसदीय प्रणाली में व्यवस्थापिका प्रशासन पर नियंत्रण निम्नलिखित विधियों द्वारा करती है :

1. राज्य के मुखिया का भाषण—इंगलैण्ड, भारत, आस्ट्रेलिया, कनाडा, आदि संसदीय प्रणाली वाले देशों में संसद का प्रत्येक नया अधिवेशन राज्य के मुखिया के भाषण से आरम्भ होता है । मुखिया के भाषण में मोटे तौर पर महत्वपूर्ण नीतियों तथा गतिविधियों पर प्रकाश डाला जाता है जो शीघ्र ही कार्यपालिका अपने हाथ में लेने वाली होती है । सामान्यतया इस पर सामान्य चर्चा के लिये तीन या चार दिन का समय नियत किया जाता है । इस चर्चा के दौरान सदस्य प्रशासन की खूब आलोचना करते हैं । इस अवसर पर दिये गये भाषणों का उद्देश्य संसद के बाहर जनमत को जाग्रत करना होता है ।

2. कानून निर्माण प्रक्रिया—व्यवस्थापिका ऐसे कानून बनाती है जिसके द्वारा प्रशासन के संगठन, कार्य तथा नियमों को निश्चित किया जाता है । संसद के किसी विशेष कानून को क्रियान्वित करने के लिये नये विभाग भी खोलने पड़ते हैं । ये बात उल्लेखनीय हैं कि विधि निर्माण के उपाय से संसद का प्रशासन पर नियंत्रण सामान्य प्रकार का है । संसद के लिये असम्भव तो नहीं परन्तु कठिन अवश्य है कि वह प्रशासनिक नियमों की विस्तार पूर्वक व्याख्या करें । संसद प्रदत्त विधान की शक्ति कार्यपालिका को दे देती है परन्तु कार्यपालिका व्यवस्थापिका द्वारा प्रदत्त सीमा के अन्दर ही नियम बना सकती है । यह अपनी निर्धारित शक्ति का उल्लंघन नहीं कर सकती । कई बार संसद कार्यपालिका द्वारा निर्मित नियमों को अपनी स्वीकृति के लिये मांग लेती है । भारत में प्रदत्त विधान पर एक समिति है जो संसद की ओर से कार्यपालिका द्वारा बनाये गये नियमों की जांच करती है और उनके बारे में संसद को रिपोर्ट देती है। जिस प्रकार विधानमण्डल शक्तियों तथा कार्यों को जन्म दे सकता है, उसी प्रकार यह उनमें परिवर्तन भी कर सकता है । इस प्रकार, व्यवस्थापिका प्रशासन के संगठन को सामान्य रूप से निर्धारित करती है ।

3. प्रश्नकाल—संसदीय प्रणाली में मंत्री संसद के सदस्य होते हैं । वे संसद के अधिवेशनों में भाग लेते है तथा सदस्यों द्वारा पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देते हैं । प्रत्येक संसदीय दिवस का पहला घंटा प्रश्नों के लिये निश्चित होता है । इस समय कोई भी सदस्य किसी प्रशासकीय अधिकारी की किसी भी भूल चूक के कार्य से सम्बन्धित प्रश्न पूछ सकता है । मंत्री अपने उत्तरों को तैयार करते हैं तथा संसद में पूछे गये प्रश्नों का उत्तर देते हैं । मंत्रियों के उत्तर पर पूरक प्रश्नों को पूछा जा सकता है । इन प्रश्नों के द्वारा जनता की शिकायतें प्रशासन तक पहुंचाई जाती हैं । प्रश्न पूछने का यह विशेषाधिकार सम्पूर्ण शासन को चौकन्ना बनाये रखता है । इस प्रकार प्रशासन की नीतियों तथा क्रियाओं के विभिन्न पहलुओं पर आश्चर्य जनक ढंग से जन-साधारण का ध्यान आकर्षित करने के लिए प्रश्न पूछने की विधि एक प्रभावपूर्ण युक्ति है । इसी कारण लोक प्रशासन अपनी प्रत्येक गतिविधि तथा लेन-देन का पूरा ब्योरा रखता है क्योंकि क्या मालूम कि कब कोई सदस्य किस बात पर जानकारी के लिये प्रश्न पूछ ले । कई बार पूछा गया प्रश्न मंत्री को बौखला देता है और उसे मजबूर होकर तुरन्त कार्रवाई करनी पड़ती है । ह्यू गेटसकिल के शब्दों में कोई भी व्यक्ति जिसने किसी भी विभाग में कार्य किया है वह मेरे

साथ इस बात पर सहमत होगा कि एक मुख्य कारण जिसकी वजह से सेवी वर्ग अति सावधानी बरतता है तथा बड़ी सावधानी से अपना सारा ब्यौरा रखता है, दब्बू भी बनता है । वह संसद में पूछे जाने वाले प्रश्न का भी है ।

प्रश्न पूछने की यह प्रक्रिया प्रशासन पर स्वस्थ रोक लगाती है । डब्ल्यू. बी. मनरी के शब्दों में, यह उन नौकरशाही प्रवृत्तियों पर, जिनका प्रत्येक सरकार में उत्पन्न होना निश्चित है, एक प्रभावी नियंत्रण है । इसके माध्यम से विशेषज्ञ नौसिखियों के प्रति उत्तरदायी रहते हैं । इन प्रश्नों का लक्ष्य प्राय: राजनीतिक होता है । ये प्राय: किसी मंत्री या सरकार को नीचा दिखाने के लिए पूछे जाते हैं, परन्तु ये लोक प्रशासन पर नियंत्रण रखने के लिए भी बड़े महत्वपूर्ण हैं । प्रश्नकाल एक प्रकार के सर्च लाइट है जिसको प्रशासकीय गतिविधियों पर प्रकाश डालने के लिए प्रयोग किया जाता है । प्रश्न पूछने की प्रक्रिया द्वारा प्रशासन का संसद के प्रति उत्तरदायित्व बना रहता है । इससे प्रशासन खुला रहता है । अलबर्ट सी. के शब्दों में, सरकार की प्रशासन में त्रुटियों पर प्रकाश डालने के लिए इससे बढ़कर कोई और विधि नहीं हो सकती । एक मंत्री सदैव अपने आप से पूछता रहता है कि उसकी अपनी और उसके अधीन कार्य करने वाले कर्मचारियों की गतिविधियां वैधानिक है या नहीं और प्रश्न पूछे जाने पर वह संसद में क्या उत्तर दे और संसद उस उत्तरको किस प्रकार लेगी । प्रश्न काल सेवी वर्ग को सदा चौकन्ना बनाये रखता है तथा इससे नौकरशाही में उत्पन्न होने वाले अहं को भी रोक लगती है ।

4. बजट पर चर्चा तथा बजट प्रणाली–प्रशासन पर व्यवस्थापिका का नियंत्रण बनाये रखने के लिए बजट प्रणाली एक प्रभावशाली साधन है । हम पहले देख चुके हैं कि बजट प्रणाली के द्वारा प्रशासन का नियंत्रण कार्यपालिका के हाथ में आ जाता है । इसी के साथ-साथ व्यवस्थापिका का प्रशासन पर नियंत्रण भी लागू हो जाता है । संसद हर साल बजट पास करती है और उसके साथ-साथ व्यय की भी अनुमति देती है । संसद की अनुमति के बिना एक पैसा भी करों के रूप में नहीं लिया जा सकता और न ही उसे खर्च किया जा सकता है । राष्ट्रीय धन के ऊपर इस नियंत्रण के माध्यम से व्यवस्थापिका विभागों की हर गतिविध की व्याख्या कर देती है । जब बजट संसद में पेश होता है तो संसद के सदस्यों को प्रशासन की समालोचना करने के निम्न अवसर प्राप्त हो जाते हैं :

1. बजट उपस्थित करने के पश्चात ही सामान्य चर्चा आरंभ हो जाती है । यह चर्चा समष्टि रूप से पूरे बजट पर या उसके निहित सिद्धान्त के किसी प्रश्न से सम्बंधित रहती है ।

2. अनुदानों पर मतदान के समय सदस्यों की चर्चा का दूसरा अवसर मिलता है । इस अवसर पर भाग के अलग-अलग शीर्ष तक ही चर्चा सीमित रहती है । यदि कटौती के प्रस्ताव पेश किये जाते हैं तो उनमें उठाई गई विशिष्ट बातों पर भी चर्चा की जाती है । चर्चा पूर्णत: भी तीक्ष्ण होती है और विशिष्ट बातों की ओर ध्यान आकर्षित करती है ।

3. वित्त विधेयक पर चर्चा होने पर सम्पूर्ण शासन पर चर्चा करने के लिए असीम अवसर प्राप्त होता है । लोकसभा के भूतपूर्व अध्यक्ष के शब्दों में, यह एक माना हुआ सिद्धान्त है कि वित्त विधेयक के किसी भी विषय पर चर्चा की जा सकती है और जनता के किसी भी कष्ट पर प्रकाश डाला जा सकता है । क्योंकि इसके पीछे यह सिद्धान्त काम करता है कि किसी भी नागरिक से कर नहीं लिया जाना चाहिए जब तक उसे संसद के माध्यम से अपने विचार प्रस्तुत करने तथा असंतोष प्रकट करने का पूरा-पूरा अवसर नहीं दिया जाता ।

यद्यपि संसदीय प्रणाली में संसद कार्यपालिका द्वारा प्रस्तुत की गई मांगों को इंकार नहीं कर सकती, क्योंकि कार्यपालिका के पीछे बहुमत होता है, परन्तु फिर भी बजट पर चर्चा से संसद को प्रशासन के कार्यों एवं इसकी गति की समीक्षा एवं आलोचना करने का अवसर प्राप्त हो जाता है जो लोक शासन की क्रिया को प्रभावित करता है ।

5. लेखा परीक्षा एवं प्रतिवेदन–आधुनिक काल में सरकार की गतिविधियाँ इतनी व्यापक हो गई हैं कि व्यवस्थापिका के लिए यह असम्भव हो गया है कि वह सरकारी व्यय पर पूरी तरह से निगरानी रख सके । यह कार्य संसद लेखा नियंत्रण तथा महालेखा परीक्षण के माध्यम से करती है । भारत में इस पद का निर्माण

संविधान द्वारा हुआ है । वह कार्यपालिका के नियंत्रण से मुक्त होकर स्वतंत्र रूप से कार्य करता है । वह व्यवस्थापिका का अधिकारी होता है । वह देखता है कि संसद द्वारा स्वीकृत धनराशि किसी नियम के अनुसार ही सरकार ने व्यय की है । जो भी धन व्यय किया गया है वह नियमानुकूल है । वित्त प्रशासन के क्षेत्र में संसद के प्रति शासन की जिम्मेदारी लेखा नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक जो सार्वजनिक लेखा समिति का मार्गदर्शक, दार्शनिक एवं मित्र होता है, की प्रतिवेदनों द्वारा सुनिश्चित हो जाती है । लेखा परीक्षक के माध्यम से प्रशासन की गलतियाँ सामने आती हैं और संबंधित अधिकारियों को उनके लिए उत्तरदायी ठहराया जाता है ।

6. काम रोको प्रस्ताव—काम रोको प्रस्ताव का उपकरण दैनिक नियंत्रण का एक साधन है । इसके प्रयोग लोक महत्व के तथा अत्यावश्यक किसी भी विशिष्ट प्रश्न पर सदन में बहस आरम्भ करने के लिए किया जा सकता है । अध्यक्ष द्वारा अनुमति देने के बाद उठाये गये प्रश्न पर तुरन्त बाद-विवाद आरम्भ हो जाता है । इस प्रकार सदन का सामान्य कार्य कुछ समय के लिये रुक जाता है । व्यवहार में देखा गया है कि अध्यक्ष अतिआवश्यक एवं लोक-महत्व के प्रश्नों की उदार व्याख्या न करने की प्रवृति प्रदर्शित करते हैं । काम रोको बहस दो घंटे वाली बहस से भिन्न होती है । दो घंटे वाली बहस किसी अत्यावश्यक या लोक महत्व के प्रश्न पर हो सकती है, परन्तु बहस के अंत में कोई मतदान नहीं होता, जबकि काम रोको प्रस्ताव पर बहस होने के बाद मतदान होता है ।

7. अविश्वास का प्रस्ताव—अविश्वास प्रस्ताव को निंदा प्रस्ताव भी कहा जाता है । भारत में इसकी व्यवस्था स्वयं संविधान में की गई है । जब सरकार की सम्पूर्ण या आंशिक नीति दूषित तथा आपत्तिजनक दीख पड़ती है तब निंदा प्रस्ताव द्वारा ही इसे ठीक करने का अवसर प्राप्त होता है । इस अवसर पर विरोधी पक्ष को बहुमत मिलने पर सरकार को त्यागपत्र देना पड़ता है । भारत में पहली बार सन 1962 में लोकसभा में मानसून अधिवेशन में सरकार के विरुद्ध रखा गया । अब इसकी रफ्तार काफी बढ़ गई है परन्तु अभी तक ऐसा कोई प्रस्ताव पास नहीं हुआ । इसके पास होने का अर्थ है सरकार का पतन ।

8. विधेयक पर बहस—संसद में बहस सरकारी गतिविधियों पर चर्चा का अवसर प्रदान करती है । विधेयक के जब तीन पठन होते हैं तो उस विधेयक में निहित सम्पूर्ण नीति की आलोचना करने का असीम अवसर प्राप्त होता है । इस आलोचना से कभी-कभी तो सरकार का विचार ही बदल जाता है । उदाहरणार्थ 1951 में संसद में अत्यन्त विरोध होने के कारण सरकार ने विवादास्पद हिंदू बिल वापस ले लिया था । भारतीय संसद में दो प्रकार की और भी विधियाँ हैं जिनके द्वारा विभागों की प्रशासनिक गतिविधियों पर चर्चा हो सकती है :

1. आधे घंटे की चर्चा 2. संक्षिप्त चर्चा

आधे घंटे की चर्चा प्रश्न काल के उपरान्त हो जाती है । जब कोई सदस्य अपने प्रश्न पर दिये गये उत्तर से संतुष्ट नहीं होता तो वह अध्यक्ष महोदय से उपरोक्त प्रश्न पर चर्चा करने के लिए प्रार्थना कर सकता है जिसे आधे घण्टे की चर्चा कहते हैं । इस चर्चा में सदन सरकार से उक्त विषय के बारे में और अधिक व्याख्या चाहती है तथा सरकार पर उपरोक्त नीति को बदलने के लिए दबाव डालती है ।

संक्षिप्त चर्चा किसी शीघ्र एवं महत्व वाले विषय पर की जाती है परन्तु यह चर्चा ढाई घंटे के अधिक नहीं हो सकती ।

इन चर्चाओं का महत्व बहुत है क्योंकि इससे सरकार को अपनी नीति की व्याख्या तथा उसके पक्ष में तर्क देने के लिए मजबूर किया जाता है । इसके माध्यम से विरोधी पक्ष को भी प्रशासन की कमियों को प्रकट करने का अवसर मिलता है । श्री एन. वी. गैडगिल ने चर्चा के माध्यम पर नियंत्रण के महत्व पर इन शब्दों में प्रकाश डाला, संक्षेप में, प्रश्न और चर्चा के माध्यम से प्रशासन पर सतत व निरन्तर पुनरावलोकन किया जाता है । सूक्ष्म ब्यौरे के माध्यम से विपक्षी दल कार्यपालिका की क्षीण कमी निकालने की चेष्टा करता है और जब कोई पकड़ ली जाती है तो यह कार्यपालिका के लिए उत्पात तथा संकट पैदा कर देता है ।

9. संसदीय समितियाँ—संसद द्वारा अपने सदस्यों में से संसदीय समितियाँ बनाना प्रशासन पर संसदीय नियंत्रण का एक अन्य माध्यम है । भारत में एक आश्वासन समिति है जिसका कार्य यह देखना है कि संसद में दिये गये मंत्री द्वारा आश्वासन क्रियान्वित किये गये हैं या नहीं । इस समिति को बनाये जाने से पूर्व संसद का सदस्य स्वयं यह देखता था कि मंत्रियों द्वारा दिये गये आश्वासन पूरे किये गये है या नहीं परन्तु इस समिति के निर्माण के बाद यह कार्य इस समिति का हो गया । यह समिति मंत्रियों द्वारा दिये गये आश्वासनों की समीक्षा करती है तथा तदुपरांत यह संसद को रिपोर्ट करती है कि (1) किस सीमा तक आश्वासन को पूरा किया गया है (2) जहाँ पूरा किया गया है क्या उसके लिये कम से कम समय लिया गया है ? ऐसी समिति मंत्रियों को सावधान रखती है कि वे आश्वासन सोच समझकर दें और प्रशासन को इस बात के लिए प्रेरित करती है कि दिये गये आश्वासनों को शीघ्रातिशीघ्र पूरा किया जाये । इस समिति के निर्माण से संसद को प्रशासन पर नियंत्रण का अच्छा साधन मिल गया है । एम.एन. कौल के शब्दों में, इसने केवल प्रशासकीय निपुणता पर चौकसी ही नहीं रखी है अपितु पिछली प्रणाली में वर्त्तमान अनेक दोषों को भी दूर किया है । अब मंत्री आश्वासन देने में सावधानी बरतते हैं तथा प्रशासन दिये गये आश्वासनों पर शीघ्र कार्रवाई करते हैं । सरकार के विभिन्न मंत्रालय संसद के प्रति अपने कर्त्तव्यों के बारे में जागरूक रहते हैं ।

संसद की अन्य समितियाँ जो प्रशासन की गतिविधियों पर सूक्ष्म चौकसी रखती हैं, ये हैं, (1) प्राक्कलन समिति (2) सार्वजनिक लेखा समिति (3) सार्वजनिक उद्योगों पर समिति तथा (4) अधीनस्थ विधान समिति । प्राक्कलन समिति, सार्वजनिक लेखा समिति तथा सार्वजनिक उद्योग समिति वित्त प्रशासन से सम्बन्धित है । सार्वजनिक वित्त पर इन समितियों के नियंत्रण का पिछले अध्याय में वर्णन कर दिया गया है । अधीनस्थ विधान समिति प्रशासकीय विधेयकों अर्थात नियमों विनियमों एवं आदेशों की समीक्षा करती है जो संसद द्वारा प्रदत्त शक्ति के अंतर्गत कार्यपालिका द्वारा बनाये जाते हैं । इस समिति ने उपयोगी कार्य किया है । यह अधीनस्थ विधान पर लाभदायक नियंत्रण बनाये रखती है ।

इन समितियों के अतिरिक्त संसद समय-समय पर किसी विशेष मामले की छानबीन करने के लिये विशेष समितियाँ भी नियुक्त करती है । ऐसी समितियाँ सरकारी पदाधिकारियों तथा गैर-सरकारी व्यक्तियों से साक्षात्कार करती हैं, प्रमाण एकत्रित करती हैं और फिर सदन को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करती हैं । सदन में इनकी रिपोर्ट पर चर्चा होती है और इस चर्चा में प्रशासन की आलोचना की जाती है । इस प्रकार समितियाँ प्रशासन पर प्रभावशाली नियंत्रण रखने का महत्वपूर्ण साधन हैं ।

उपर्युक्त साधनों द्वारा व्यवस्थापिका संसदीय प्रणाली में प्रशासन पर नियंत्रण रखती है परन्तु इस दिशा में व्यवस्थापिका का महत्व सीमित है, क्योंकि –

1. व्यवस्थापिका एक बहुत बड़ा निकाय है । अपने बड़े आकार के कारण यह प्रभावशाली नियंत्रण नहीं कर सकती ।

2. व्यवस्थापिका के सदस्य नौसिखिये होते हैं जबकि इसके विपरीत प्रशासन के सदस्य विशेषज्ञ एवं तकनीकी होते हैं ।

3. इसके निर्णय सामान्य होते हैं और इसे विधेयक की रूपरेखा एवं सूक्ष्मताओं के लिये कार्यपालिका पर निर्भर रहना पड़ता है ।

4. सदस्यों का बहुमत सरकार के साथ होता है । इसलिए निन्दा या अविश्वास प्रस्ताव के पारित होने की संभावना कम होती है ।

5. वित्त समितियाँ शब्द-परीक्षण का कार्य करती हैं । वे व्यय हो जाने के बाद ही इसकी समीक्षा करती हैं ।

6. संसदीय प्रणाली में व्यवस्थापिका मंत्रिमंडल के हाथों में कठपुतली की भाँति नाचती है ।

7. अधिकांश आलोचना राजनीतिक होती है, जिसका मुख्य उद्देश्य सरकार को हटाना होता है ।

14.3.3 संसदीय प्रणाली की समस्याएँ एवं सीमाएँ

प्रशासन पर विधायिका का नियंत्रण संसदीय प्रजातंत्र की प्रमुख विशेषता है तथा प्रशासन को जनता के प्रति उत्तरदायी बनाने का एक अप्रत्यक्ष साधन भी है । लेकिन यह नियन्त्रण मात्र सिद्धान्त रूप में ही प्रभावी प्रतीत होता है । व्यवहारत: संसद अनेक सीमाओं में बंधा हुआ है । विधायिकाओं के पास कार्यों का बोझ इतना ज्यादा है कि विधायिकाएँ उस बोझ के तले दबी हुई नजर आती हैं । इसके आलावा संसद के सदस्यों को तकनीकी ज्ञान नहीं होता है, वे विशेषज्ञ नहीं होते हैं । विषय की बारीकियों को समझे बिना वे रचनात्मक और प्रभावकारी नियंत्रण नहीं कर पाते हैं । फलत: वे सामान्य प्रकार के प्रश्न उठाते हैं जो प्रभावशाली आलोचना साबित नहीं होते हैं । एक अन्य समस्या यह होती है कि आज विधायिका के सदस्यों में स्वप्रचार की भावना ज्यादा पायी जाती है । अत: वे प्रशासन और सरकार की आलोचना प्रशासनिक व्यवस्था में सुधार लाने और उसके दोषों को दूर करने के लिए नहीं करते, बल्कि उनका प्रमुख उद्देश्य अपना प्रचार करना तथा अपनी प्रसिद्धि पाना होता है क्योंकि उनकी सदन में की गई कटु आलोचना अ[illegible], पत्रिकाओं में, आकाशवाणी और दूरदर्शन में स्थान पाती है । संसदीय आलोचनाएं दलगत भी होती हैं । समितियों का गठन और जाँच आयोग का गठन ये दो अस्त्र आजकल ऐसे हो गये हैं जिनकी वजह से सरकार बड़े से बड़े आरोप को भी तुरन्त हवा कर देती है ।

14.4 सारांश

लार्ड एक्टन के अनुसार शक्ति भ्रष्ट करती है और पूर्ण शक्ति पूर्ण भ्रष्ट करती है । अत: लोक प्रशासन पर नियंत्रण की अनिवार्यता से इनकार नहीं किया जा सकता है । विधायिका विधि निर्माण करती है, विचार-विमर्श करती है और साथ ही साथ प्रशासन पर नियंत्रण रखने का भी काम करती है । लोकतंत्र में लोक प्रशासन विधायिका के प्रति अनिवार्य रूप से उत्तरदायी होती है । संसदीय प्रणाली में विधायी नियंत्रण निम्नलिखित विधियों से कार्यान्वित किया जाता है । (1) राज्याध्यक्ष का भाषण (2) कानून-निर्माण प्रक्रिया (3) प्रश्न काल (4) बजट पर चर्चा तथा बजट प्रणाली (5) लेखा परीक्षा एवं प्रतिवेदन (6) काम रोको प्रस्ताव (7) अविश्वास का प्रस्ताव (8) विधेयक पर बहस (9) संसदीय समितियाँ अध्यक्षात्मक प्रणाली वाले देशों में शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त के चलते कार्यपालिका पर संसद का नियंत्रण उतना प्रभावी नहीं हो सकता जितने संसदीय व्यवस्था वाले देशों में । फिर भी अपने सीमित साधनों से अध्यक्षात्मक पद्धति वाले देश में भी विधायिका प्रशासन पर नियंत्रण रखती है ।

14.5 पाठ में प्रयुक्त कुछ प्रमुख शब्द

1. ध्यानाकर्षण प्रस्ताव
2. कार्य-स्थगन प्रस्ताव
3. अविश्वास प्रस्ताव
4. बजट
5. लेखा-परीक्षण

14.6 अभ्यास के प्रश्न

(क) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. आधुनिक लोकतंत्रीय राज्य में प्रशासन पर विधायी नियंत्रण की विधियों को समझाएं ।
2. विधायिकाएं प्रशासन पर किस प्रकार नियन्त्रण रखती है ?

(ख) लघु उत्तरीय प्रश्न

1. प्रश्न काल और अभिशासन प्रस्ताव पर टिप्पणी लिखें ।

14.7 प्रस्तावित पाठ

1. डॉ० एम. पी. शर्मा : लोक प्रशासन—सिद्धान्त एवं व्यवहार
2. अवस्थी और महेश्वरी : लोक प्रशासन
3. विष्णु भगवान एवं विद्याभूषण : लोक प्रशासन के सिद्धान्त

प्रशासन पर न्यायिक नियंत्रण

पाठ-संरचना

15.0 उद्देश्य
15.1 विषय प्रवेश
15.2 प्रशासन पर न्यायिक नियन्त्रण की प्रकृति
15.2.1 न्यायिक हस्तक्षेप की दशाएं
15.2.2 सरकार के विरुद्ध न्यायिक उपचार
15.2.3 कानून के शासन में कुछ अपवाद
15.2.4 असाधारण न्यायिक उपचार
15.2.5 न्यायिक नियन्त्रण की समस्याएं
15.3 सारांश
15.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ कठिन शब्द
15.5 अभ्यास के प्रश्न
15.6 प्रस्तावित पाठ

15.0 उद्देश्य

प्रजातांत्रिक देशों में न्यायपालिका नागरिक अधिकारों और स्वतन्त्रताओं की रक्षक होती है। न्यायपालिका इस बात पर भी नजर रखती है कि प्रशासकीय अधिकारी अपनी सीमाओं में रहकर कार्य करें। अगर प्रशासकीय अधिकारी और प्रशासन किसी नागरिक पर अत्याचार करते हैं तो उसकी फरियाद को न्यायालय सुनता है और निर्णय देता है। अमेरिका की तरह भारत में भी न्यायिक क्षेत्र में न्यायपालिका को न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार प्राप्त है। न सिर्फ न्यायपालिका भारत में सर्वोच्च है, बल्कि मौलिक अधिकार और संविधान का रक्षक भी है। आधुनिक प्रशासकीय राज्य और जनकल्याण की भावना ने राज्य के कार्यों और अधिकारों का क्षेत्र व्यापक बना दिया है। जिस अनुपात में उनके कार्यों में वृद्धि हुई है उस अनुपात से राज्य की शक्तियां भी बढ़ी हैं। अगर उनकी शक्तियों पर नियन्त्रण न रखा गया तो प्रशासन निरंकुश और तानाशाह बन जाएगा। लोक प्रशासन पर इस नियन्त्रण की धारणा को सबसे अच्छे ढंग से न्यायपालिका का नियन्त्रण पूरा करता है। ब्राइस की भी यह मान्यता है कि किसी सरकार की कार्यकुशलता को जानने का सर्वश्रेष्ठ मापदण्ड न्यायिक व्यवस्था की कार्यकुशलता ही है। इस लेशन प्लान का उद्देश्य यह दर्शाना है कि न्यायपालिका किस तरह से लोक प्रशासन को नियन्त्रित करती है। किन दशाओं में न्यायपालिका हस्तक्षेप कर सकती है और किन विधियों के द्वारा न्यायपालिका लोक प्रशासन पर नियंत्रण रखती है–इन सारी बातों की चर्चा होगी। बाद में सारांश दिया जाएगा। इसके साथ ही पाठ में कुछ प्रयुक्त कुछ कठिन शब्द और अभ्यास के लिए प्रश्न पूछे जायेंगे।

15.1 विषय प्रवेश

अर्नेष्ट फ्रायड के अनुसार बढ़ती हुई प्रशासकीय शक्तियां यह मांग करती हैं कि उनकी सुरक्षा की समुचित व्यवस्था जरूरी है जिसमें उनका दुरुपयोग नहीं किया जा सके। जब तक सरकारी कर्मचारियों में पक्षपात करने भूल करने या अति उत्साह प्रदर्शित करने की सम्भावना है तब तक व्यक्ति के अधिकारों की रक्षा करना सरकारी आवश्यकता है जितना किसी सरकारी नीति का प्रभावशाली होना। लेकिन कुछ ही दशाओं में न्यायपालिका लोक प्रशासन के कार्य में हस्तक्षेप कर सकती है।

15.2 लोक प्रशासन पर न्यायिक नियन्त्रण की प्रकृति

प्रशासन पर न्यायिक नियन्त्रण का अर्थ है—सरकारी अधिकारियों के कार्यों की वैधता का परीक्षण करने की न्यायालयों की शक्ति और उसके द्वारा नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करना। इसमें यह अर्थ भी निहित है—नागरिकों का न्यायालय के द्वार खटखटाने का अधिकार, जब किसी सरकारी पदाधिकारी ने अपने कार्य के क्रियान्वयन के दौरान उनको कोई हानि पहुंचाई हो। डॉ० एल० डी० व्हाइट ने न्यायिक नियन्त्रण महत्त्व को इन शब्दों में रखा है, अधिकारियों और उनके कार्यों पर बाहरी औपचारिक नियन्त्रण दो मुख्य प्रभागों के अन्तर्गत आता है—एक तो विधायिका द्वारा रखा जाने वाला नियन्त्रण और दूसरा न्यायालयों द्वारा नियन्त्रण। विधान-मण्डल का उद्देश्य कार्यपालिका के खर्च और उसकी नीति पर नियन्त्रण रखना है, प्रशासनिक कार्यों के न्यायिक नियन्त्रण का उद्देश्य प्रशासनिक कार्यों की वैधता देखना और इस प्रकार नागरिकों के संवैधानिक और अन्य अधिकारों को उनके गैर-कानूनी हस्तक्षेप से बचाना है।

15.2.1 न्यायिक हस्तक्षेप की दशाएं

न्यायिक हस्तक्षेप अपने स्वरूप में संकुचित तथा क्षेत्र में सीमित है। प्रथम, न्यायालय प्रशासन के कार्यों में अपनी ओर से हस्तक्षेप नहीं कर सकते। वे तभी दखल दे सकते हैं जब कोई व्यक्ति, जिसे यह डर हो कि सरकारी अधिकारी के कार्य से उसके अधिकारों की अवहेलना हो रही है या होने की संभावना है, इसकी शिकायत लेकर उनके पास जाये। दूसरे, न्यायालय प्रत्येक प्रशासनिक कार्य में हस्तक्षेप नहीं कर सकते, क्योंकि यदि न्यायिक हस्तक्षेप अधिक होगा तो सरकारी कर्मचारियों को भयभीत कर देगा और यदि कम होगा तो वह प्रशासन को नागरिकों के अधिकारों के प्रति उदासीन कर देगा। एल० डी० व्हाईट के शब्दों में, एक छोर पर न्यायिक नियन्त्रण का आधिक्य प्रभावकारी प्रशासन को गतिहीन कर देगा, दूसरे छोर पर इसकी कमी नौकरशाही में निरंकुशता उत्पन्न कर देगी। इन दोनों के बीच कहां पर संतुलन बनाया जाये, यह न्यायिक प्रशासन सम्बन्धों की एक प्रमुख समस्या है। इस प्रकार न्यायिक हस्तक्षेप के कोई कठोर सिद्धान्त नहीं बनाये जा सकते। प्रशासनिक मामलों में न्यायालय निम्नलिखित आधारों पर हस्तक्षेप करते हैं।

1. अधिकार-क्षेत्र का अभाव—प्रत्येक अधिकारी को अपनी शक्ति की सीमा के अन्दर तथा निश्चित भौगोलिक क्षेत्र में कार्य करना पड़ता है। यदि वह अपनी शक्ति के बाहर या अपनी शक्तियों के भौगोलिक क्षेत्र से बाहर कार्य करता है तो न्यायालय उसके काम को अवैध अतएव प्रभावहीन घोषित कर सकते हैं। उदाहरणतया, भारतीय संविधान में एक सरकारी कर्मचारी को हटाने का अधिकार नियोक्ता अधिकारी के पास है। यदि किसी सरकारी कर्मचारी को नियोक्ता अधिकारी से निम्न श्रेणी का अधिकारी पद से हटाने का आदेश दे तो वह आदेश अवैध करार दे दिया जायेगा, क्योंकि वह अधिकार क्षेत्र की सीमा से बाहर है। श्री आर० पी० कपूर, आई० सी० एस० कमिश्नर, पटियाला डिवीजन के मुकदमे में न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि पंजाब का गवर्नर श्री कपूर को निलंबित नहीं कर सकता, क्योंकि श्री कपूर की नियुक्ति इंगलैण्ड के राजा ने की थी और स्वतन्त्रता के बाद यह शक्ति राष्ट्रपति के पास आ गई है। गवर्नर राष्ट्रपति से निम्न श्रेणी का है, अतः वह श्री कपूर को निलम्बित नहीं कर सकता।

2. कानून की त्रुटि—सरकारी कर्मचारी कानून की गलत व्याख्या भी कर सकते हैं और फलस्वरूप नागरिकों पर ऐसे कर्त्तव्य और दायित्व लाद सकते हैं जो कानून द्वारा अपेक्षित न हों। इस कारण जिस नागरिक को कष्ट पहुंचा हो वह क्षतिपूर्त्ति के लिये अदालत के पास जा सकता है।

3. तथ्यशोधन में त्रुटि—तीसरे, ऐसे मामले भी हो सकते हैं जिनमें सरकारी कर्मचारियों ने तथ्यशोधन में गलती की हो, जैसे कि तथ्यों का गलत अध्ययन कर लेना या गलत आधार पर कार्य कराना। इससे किसी नागरिक को हानि पहुंच सकती है, परन्तु ऐसी स्थिति में न्यायालय का सहारा लेकर उचित कार्रवाई की जा सकती है।

4. प्राधिकार का दुरुपयोग—यदि कोई सरकारी कर्मचारी किसी व्यक्ति को हानि पहुंचाने के लिये अपने अधिकार का दुरुपयोग करता है तो न्यायालय उस मामले में हस्तक्षेप कर सकता है और यदि यह सिद्ध हो जाय कि बदला लेने के लिये सम्बन्धित अधिकारी ने प्राधिकार का दुरुपयोग किया तो न्यायालय उसे दंडित कर सकता है।

5. क्रिया विधि की त्रुटि—सरकारी कर्मचारियों को कानून द्वारा नियत क्रियाविधि के अनुसार कार्य करना पड़ता है और यदि वे निर्धारित प्रक्रिया का अनुसरण नहीं करते तो अदालत उनके कार्यों की वैधता का प्रश्न उठा सकती है। उदाहरणतया, कानून में व्यवस्था है कि किसी कर्मचारी के विरुद्ध मुअत्तली या बर्खास्तगी की कार्रवाई करने से पूर्व उसे आरोपों की सूचना दी जानी चाहिये। यदि कोई अधिकारी किसी कर्मचारी को ऐसी सूचना दिये बिना उसके खिलाफ कार्रवाई कर देता है तो उसकी कार्रवाई को न्यायालय अवैध घोषित कर देगा। श्री एन० वी० गाडगिल के शब्दों में, प्रशासन का कोई कार्य वांछनीय था या नहीं— न्यायालय इसकी समीक्षा नहीं कर सकता। परन्तु प्रशासन ने जो कुछ किया है वह करने के लिये वह सक्षम था या नहीं और वैसा करने में उसने निर्धारित क्रियाविधि का पालन किया था या नहीं, यह देखने के लिये न्यायालय अवश्य हस्तक्षेप कर सकता है।

15.2.2 सरकार के विरुद्ध न्यायिक उपचार

उपर्युक्त मामलों में सरकार के विरुद्ध न्यायिक उपचार उपलब्ध है। न्यायिक नियन्त्रण राज्य या सरकार स्वयं या जिस कर्मचारी के कार्य से क्षति पहुंची है उस पर मुकदमा चलाने के रूप में हो सकता है। सरकार या सरकारी अधिकारियों के ऊपर मुकदमा चलाने के बारे में भिन्न-भिन्न देशों में स्थिति भिन्न-भिन्न है। जिन देशों में कानून का शासन है उनमें स्थिति प्रशासकीय कानून वाले देशों से भिन्न है। कानून का शासन इंगलैण्ड, उसके उपनिवेशों तथा कामनवेल्थ के सदस्य देशों, जिनमें भारत भी शामिल है, और संयुक्त राज्य अमेरिका व बेल्जियम में प्रचलित है। फ्रान्स और यूरोप के अन्य देशों में प्रशासकीय कानून है। कानून के शासन का अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति ऊंचा या नीचा, सरकारी कर्मचारी या साधारण नागरिक, देश के एक ही कानून के अधीन है, और सरकारी कर्मचारी अपनी सरकारी हैसियत में गलतियां करके राज्य की संप्रभुता की ओट नहीं ले सकता। डायसी के शब्दों में, इंगलैण्ड में प्रत्येक अधिकारी प्रधान मंत्री से लेकर सिपाही तक या टैक्सों के कलक्टर तक सभी अपने कार्यों के लिये समान कानून के सामने उत्तरदायी हैं जैसे कि अन्य नागरिक। इसका अर्थ यह है कि अधिकारियों द्वारा किये गये गलत कार्यों का उत्तरदायित्व राज्य पर नहीं थोपा जा सकता, चाहे सरकारी कर्मचारी ने वह कार्य अपने कार्यक्षेत्र या अधिकार क्षेत्र की सीमा से बाहर जाकर किया हो। अधिकारी पर स्वयं अपनी गलतियों से सम्बन्धित मुकदमा नहीं चलाया जा सकता अर्थात् राज्य क्षतिपूर्त्ति के दावों से उन्मुक्त है। ऐसे दावे केवल उन अधिकारियों के विरुद्ध ही किये जा सकते हैं जिनके कार्य से नागरिक को क्षति हुई है।

यह उपचार कुछ अधिक लाभकारी नहीं है क्योंकि अदालत जिस क्षतिपूर्त्ति के लिये आदेश दे भी देती है वह सम्बनिधत अधिकारी की आर्थिक विपन्नता के कारण वसूल नहीं किया जा सकता। इसलिये आंदोलन, इस उपचार को प्रभावकारी बनाने के लिये चलता रहा। इंगलैण्ड में क्राउन प्रोसीडिंग्स ऐक्ट 1947 पारित होने के

कारण स्थिति सुधर गई, जिसके अंतर्गत राज्य अपने कर्मचारियों द्वारा की गई भूलों के लिए जिम्मेदार है। परन्तु इसके दो अपवाद हैं–

1. राज्य को उसकी सुरक्षा के लिये, सैनिक सेवाओं, श्रमिकों एवं विदेशियों के प्रशासन के लिये, अव्यवस्था को कुचलने के लिये किये गये कार्यों के लिये जिम्मेदार नहीं ठहराया जा सकता, (2) राज्य न्यायालय के सामने गुप्त आलेख प्रस्तुत करने को बाध्य नहीं है।

संयुक्त राज्य अमेरिका में कुछ स्थितियों को छोड़कर राज्य को कर्मचारियों द्वारा पहुंचाई गई हानि के लिये उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। ये स्थितियां हैं (1) नौसेना एवं सामुद्रिक क्षेत्राधिकारी तथा (2) पोस्टमास्टर जनरल को 500 डालर तक की क्षति के दावे निर्णीत करने का अधिकार।

संयुक्त राज्य के राज्यों के बारे में भी यही स्थिति है अर्थात् किसी राज्य के विरुद्ध क्षतिपूर्ति का दावा नहीं किया जा सकता। संघ सरकार के विरुद्ध राज्य न्यायालयों में तथा राज्य सरकारों के विरुद्ध संघीय न्यायालयों में मुकदमा नहीं चलाया जा सकता।

भारत में सरकार का दायित्व संविधान की धारा 300 के अधीन परिचालित होता है। इस धारा में यह व्यवस्था है कि भारत सरकार या राज्य सरकार के विरुद्ध मुकदमा चलाया जा सकता है। परन्तु यह मुकदमा किन स्थितियों में चलाया जा सकता है, इसका उल्लेख संसद या राज्य विधानमण्डल कानून बनाकर निर्धारित करेंगे और जब तक ऐसे कानून नहीं बनते, स्थिति वैसी होगी, जैसी इस संविधान के निर्माण से पूर्व थी। स्थिति यह है कि सरकार संविदाओं अर्थात् व्यापारिक कार्यों में राज्य को वादी बनाकर लाया जा सकता है, परन्तु क्षतिपूर्ति के मामलों में स्थिति स्पष्ट नहीं है। भारत में राज्य के दायित्व के मामलों में संप्रभु कार्यों एवं असंप्रभु कार्यों में अन्तर किया गया है। राज्य संप्रभु कार्यों उन कार्यों जो इसकी संप्रभुता के प्रयोग में किये गये हैं, के लिये उत्तरदायी नहीं है, परन्तु असंप्रभु कार्यों के बीच अंतर तर्कपूर्ण एवं एकट नहीं है। वस्तुतः भारतीय संविधान के प्रजातांत्रिक स्वरूप से राज्य की उन्मुक्ति का सिद्धान्त मेल नहीं खाता। विधि आयोग ने सिफारिश की थी कि भारत में इस विषय पर शीघ्र कानून बनाया जाये। इसने ऐसे कानून के कुछ सिद्धान्तों का भी वर्णन किया। 1965 में इस सम्बन्ध में एक अधिनियम लोकसभा में सरकार की ओर से प्रस्तुत भी किया गया, परन्तु उसे वापिस ले लिया गया और वह विधेयक न बन सका।

जिन देशों में प्रशासकीय कानून प्रणाली है वहां पदाधिकारियों के गलत कार्यों की जिम्मेदारी राज्य पर है। इन दोनों में पदाधिकारियों पर सामान्य न्यायालयों में मुकदमा नहीं चलाया जाता, बल्कि उनको प्रशासकीय न्यायालयों के सामने लाया जाता है। जब यह सिद्ध हो जाता है कि किसी राज्य अधिकारी के कार्य से किसी नागरिक को हानि हुई है तो न्यायालय उसकी क्षतिपूर्ति सरकारी कोष से किये जाने का आदेश देता है। बाद में सरकार उस अधिकारी के विरुद्ध जो कार्यवाही उचित समझे कर सकती है। परन्तु जहां तक नागरिक का सम्बन्ध है उसकी तो क्षतिपूर्ति हो ही जाती है।

इस प्रणाली के समर्थकों ने इसके निम्नलिखित गुण बतलाये हैं–

1. यह प्रशासकीय अधिकारियों को सामान्य न्यायालय के क्षेत्राधिकार से बाहर रखती है, जिससे सरकार कर्मचारी तत्परता से, निर्भय होकर तथा निपुणता से कार्य करता है।

2. यह भी कहा गया है कि न्यायाधीश केवल कानून के विशेषज्ञ होते हैं, उन्हें प्रशासन की तकनीकियों अथवा कार्यकारिणी की मजबूरियों का कोई ज्ञान नहीं होता। अतः प्रशासकीय विवाद उनके क्षेत्र से बाहर होने चाहिये। प्रशासकीय विवादों का निर्णय कानूनी दृष्टिकोण से नहीं, अपितु जनहित के दृष्टिकोण से होना चाहिए।

3. तीसरे, इस प्रणाली के अंतर्गत जनता को थोड़े खर्च पर और कम समय में निर्णय प्राप्त हो जाता है जो कानून के शासन के शासन वाली प्रणाली में सम्भव नहीं है।

फ्रांस की कौंसिल ऑफ स्टेट पूर्ण निष्पक्षता, स्वतन्त्रता एवं सुचारु रूप से कार्य कर रही है। वहां की जनता का इसके प्रति पूर्ण विश्वास है और वह इसे आदर की भावना से देखती है।

15.2.3 कानून के शासन में कुछ अपवाद

कानून के शासन वाले देशों में भी कुछ व्यक्तियों को अदालत के अभियोग और दण्ड से छूट होती है। उदाहरणतया, इंगलैण्ड के राजा या रानी को किसी मामले में प्रतिवादी नहीं बनाया जा सकता। वहां इस सिद्धान्त को कानूनी मान्यता प्राप्त है "राजा कोई गलती नहीं कर सकता।" अमेरिका में भी राष्ट्रपति जब तक पदासीन है, अभियोग से मुक्त है। उसे केवल महाभियोग द्वारा ही हटाया जा सकता है और उस पर पद से हट जाने के बाद ही मुकदमा चलाया जा सकता है। भारत में यही स्थिति राष्ट्रपति एवं राज्यपालों के सम्बन्ध में है। उन पर उनके पद की अवधि के दौरान कोई भी फौजदारी मुकदमा नहीं चलाया जा सकता। उनके विरुद्ध दीवानी कार्रवाही दो मास की नोटिस के बाद ही की जा सकती है। मंत्रियों पर यह छूट लागू नहीं होती। न्यायिक अधिकारियों को भी कुछ छूट है। उन पर उनके द्वारा किये गये निर्णयों के बारे में कोई मुकदमा नहीं चलाया जा सकता है। अन्य अधिकारियों पर, दीवानी एवं फौजदारी दोनों मुकदमे चलाये जा सकते हैं। किसी अधिकारी द्वारा, सरकारी कर्मचारी की हैसियत से किये गये कार्यों के लिये, सिविल कार्यवाही दो महीने की नोटिस देने और वह अवधि समाप्त होने के बाद ही की जा सकती है। यदि सम्बन्धित अधिकारी के गैर-कानूनी कार्यों के विरुद्ध कर्मचारी के विरुद्ध किसी सरकारी कार्य के दौरान किये गये कार्य से सम्बन्धित फौजदारी मुकदमा चलाने से पूर्व राष्ट्रपति या गवर्नर, यथावसर, की पूर्व स्वीकृति लेनी जरूरी है।

15.2.4 असाधारण न्यायिक उपचार

सरकार या इसके अधिकारियों पर मुकदमा चलाने के न्यायिक उपचार के अतिरिक्त नागरिकों को सरकारी कर्मचारियों की ज्यादतियों के विरुद्ध निम्नलिखित असाधारण उपचार भी उपलब्ध है।

1. बन्दी प्रत्यक्षीकरण—हैबियस का शाब्दिक अर्थ है शरीर को प्रस्तुत करना। यह एक लेख है जो न्यायालय आदेश के रूप में जारी करता है जिसमें किसी गिरफ्तार किये गये व्यक्ति को अपने सामने पेश करने के लिये कहा जाता है ताकि अदालत यह जान सके कि सम्बन्धित व्यक्ति को किन कारणों से गिरफ्तार किया गया है और यदि उसकी गिरफ्तारी के उचित कारण न हों तो उसे छोड़ दिया जाय। इस लेख का उद्देश्य यह पता करना है कि कोई आदमी कानूनी तौर पर गिरफ्तार किया गया है या नहीं या उसकी स्वाधीनता छीनने का कानूनी अधिकार है या नहीं। दूसरे शब्दों में, यह नागरिकों की स्वाधीनता का शक्तिशाली रक्षक है।

बंदी प्रत्यक्षीकरण किसी भी नागरिक को अधिकार रूप में प्राप्त है, यह न्यायालय की मर्जी पर निर्भर नहीं है। यदि इस बात का प्रमाण है कि किसी व्यक्ति की स्वाधीनता गैर-कानूनी तौर पर छीनी गई है तो अदालत को बन्दी प्रत्यक्षीकरण का लेख जारी करना पड़ेगा। यह एक विचित्र बात है कि हमारे संविधान द्वारा भारत को सर्वप्रभुता सम्पन्न लोक-तंत्रात्तमक गणराज्य घोषित करने तथा मौलिक अधिकारों पर एक लम्बे अध्याय को देने के बाद संसद तथा राज्य विधानमण्डलों को व्यक्तियों को नजरअंदाज करने के लिये कानून पास करने का अधिकार देता है। यह वस्तुतः नागरिक की स्वतंत्रता के अधिकार पर एक बहुत बड़ी सीमा है कि निवारक नजरबन्दी कानूनी समाप्त करके अब संसद ने आंतरिक सुरक्षा अधिनियम पारित कर रखा है जो एक काफी कठोर कानून है। निवारक नजरबन्दी कानून के अन्तर्गत नागरिकों को जो सुरक्षाएं प्राप्त थीं वे अब मीसा के अंतर्गत प्राप्त नहीं हैं। भारत में आंतरिक संकटकालीन परिस्थिति की घोषणा के बाद मीसा का खुलकर प्रयोग किया गया। वास्तव में एक प्रजातान्त्रिक देश में निवारक नजरबन्दी कानून या मीसा की कोई जरूरत नहीं होनी चाहिए क्योंकि ये जनता की स्वतन्त्रता में बाधक होते हैं परन्तु इनसे बचा भी नहीं जा सकता क्योंकि हमारे देश में अब भी बहुत से समाजविरोधी तत्व हैं। उनके द्वारा समाज के कल्याण को या राज्य की सुरक्षा को कोई खतरा न पहुंचे, इसके लिये यह जरूरी है कि उन्हें निवारक नजरबन्दी कानून के अंतर्गत गिरफ्तार रखा जाय।

2. परमादेश लेख—मैण्डस का शब्दार्थ है आदेश या आज्ञा। यह सक्षम अधिकार वाले किसी सामान्य न्यायालय द्वारा किसी व्यक्ति, निगम या निचली अदालत को कोई ऐसा कार्य करने के लिए दिया गया आदेश है जो कार्य उनकी कर्त्तव्य सीमा में आता है और जिसे उन्हें पूरा करना चाहिये। संक्षेप में, सरकारी अधिकारी

को जारी किया गया वह लेख जिसमें उसे अपना कोई ऐसा कर्त्तव्य पूरा करने के लिये कहा गया है जो उसने अब तक पूरा नहीं किया। यह लेख एक अधिकारी के रूप में नहीं मांगा जा सकता है। इसका जारी करना या न जारी करना बिल्कुल अदालत के विवेक पर निर्भर है और यदि अदालत यह महसूस करती है कि कोई वैकल्पिक उपचार उपलब्ध है तो वह इस लेख को जारी किया जा सकता है।

1. प्रथम, आवेदन को यह प्रमाणित करना पड़ेगा कि जो कार्य वह कराना चाहता है वह वैध एवं न्यायोचित है।

2. दूसरे, यह अधिकार एक सार्वजनिक अधिकार है और सार्वजनिक कर्त्तव्य द्वारा ही इसे यथाविधि लागू करने की मांग की गई है।

3. तीसरे, आवेदन को कानूनी अधिकार होना चाहिये जिससे वह उस कार्य को करा सके।

4. चौथे, आवेदन उसी व्यक्ति का होना चाहिये जिसके अधिकार को क्षति पहुंची है।

5. आवेदन-पत्र तब उपस्थित किया जाना चाहिये जब पहले सम्बन्धित व्यक्ति से कहा जा चुका हो और उसने आवेदित कार्य करने से इंकार कर दिया हो। परन्तु इस शर्त्त का कठोरता से पालन नहीं होता है और न्यायालय इसको छोड़ भी सकता है।

3. निषेधाज्ञा—निषेधाज्ञा एक न्यायिक लेख है जो किसी उच्च न्यायालय द्वारा अपने से निचले न्यायालय को कोई ऐसा कार्य करने से रोकने के लिये जारी किया जाता है जो कार्य उसके अधिकार क्षेत्र से बाहर है। इस प्रकार यह लेख निचले न्यायालय को कोई ऐसा काम करने से इंकार करता है जिसे करने का उसे अधिकार नहीं है। इस लेख की अधिकार के रूप में मांग की जा सकती है। निषेध और परमादेश में अंतर है। प्रथम, निषेध लेख की मांग अधिकार के रूप में की जा सकती है परन्तु परामादेश की नहीं। द्वितीय, परमादेश किसी सरकारी पदाधिकारी या प्राधिकरण के विरुद्ध प्राप्त किया जा सकता है जबकि निषेध लेख केवल न्यायिक या अर्द्धन्यायिक अधिकरणों के विरुद्ध किया जाता है। यह विशुद्ध रूप से प्रशासनिक या विधायी प्राधिकरणों या कार्यों के विरुद्ध उपलब्ध नहीं हो सकता। तीसरे, निषेध के लिये वह आवश्यक नहीं कि सम्बन्धित व्यक्ति का हित उसमें शामिल हो, किन्तु परमादेश के लिये अभ्यर्थी को अपना निजी अधिकार सिद्ध करना होगा।

इस प्रकार निषेध लेख प्रशासकीय न्यायाधिकरणी के कार्यों पर नियन्त्रण रखता है परन्तु सामान्य प्रशासन पर इसका कोई नियन्त्रण प्रभाव नहीं है।

4. परमादेश—व्यादेश लेख न्यायालय द्वारा किसी व्यक्ति को कोई काम करने या न करने का आदेश देने के लिये जारी किया जाता है। इसे आज्ञाकारी कहा जाता है जब इसके द्वारा प्रतिवादी को कोई काम करने के लिये आवेदन दिया जाता है तथा तब किसी प्रतिवादी को कोई काम करने से मना किया जाता है तो इसे निवारक व्यादेश लेख कहते हैं। इस प्रकार आज्ञाकारी व्यादेश परमादेश से मिलता-जुलता प्रतीत होता है, क्योंकि दोनों ही अभ्यर्थी को कुछ-न-कुछ करने का आदेश देते हैं। किन्तु इन दोनों में अंतर है। परमादेश गैर-सरकारी लोगों के विरुद्ध जारी नहीं किया जा सकता है। पुनः निवारक व्यादेश निषेध से मिलता है किन्तु इन दोनों में यह अंतर है कि निषेध लेख केवल न्यायिक अधिकरण के विरुद्ध उपलब्ध है जबकि व्यादेश कार्यापालिका के अधिकारियों के विरुद्ध लेख है।

5. उत्प्रेषण—सरशियोरारी का शाब्दिक अर्थ है—प्रमाणित करना, निश्चय करना। उत्प्रेषण लेख उच्च न्यायालय द्वारा किसी निचले न्यायालय को दिया गया निदेश है जिसमें निचले न्यायालय से यह कहा जाता है कि वह अपने यहां विचाराधीन मामले की कार्यवाही के रिकार्ड को भेज दे ताकि उस मामले पर अपेक्षित कार्रवाई की जा सके जो निचले न्यायालय में सम्भव नहीं है। उत्प्रेषण लेख निषेध से मिलता जुलता है परन्तु यह निषेध लेख से कुछ अधिक है। निषेध लेख केवल निवारक होता है जबकि उत्प्रेषण लेख निवारक और उपचारी दोनों होता है। निषेध में किसी निचली अदालत को मुकदमा सुनने से रोका जाता है जबकि उत्प्रेषण लेख के आधार

पर ऊपर की अदालत निचली अदालत की कार्रवाई और आदेश रिकार्ड मंगवा सकती है और उनकी वैधता की जाँच करने पर यदि सम्बन्धित आदेश को अधिकार-क्षेत्र से बाहर पाती है तो उसे रद्द कर सकती है।

6. अधिकारपृच्छा—को वारंटो का शाब्दिक अर्थ है क्या अधिकार या प्राधिकार है ? अधिकार पृच्छा लेख किसी अदालत द्वारा यह देखने के लिए जारी किया जाता है कि कोई पार्टी जिस पर यह विशेषाधिकार का दावा कर रही है वह कहां तक वैध है और यदि उसका दावा वैध नहीं है तो उसे रद्द घोषित कर दिया जाया। इस लेख के लिए आवश्यक शर्त्त यह है कि जिस पद के बारे में विवाद है वह संविधान द्वारा या संविधान द्वारा स्थापित किया गया हो और वह पद सरकारी पद हो, गैर-सरकारी नहीं। दूसरे, पद का कार्यकाल स्थायी हो और उसे इच्छा से समाप्त न किया जा सकता। तीसरे, संबंधित व्यक्ति वस्तुतः पद पर आसीन रहा हो और विवादग्रस्त पद का उपभोक्ता हो। चौथे, यह आवश्यक नहीं कि अभ्यर्थी ही संबंधित पद का एकमात्र दावेदार हो। कोई व्यक्ति चाहे वह पद में सीधे अभिरुचि रखता हो या नहीं, इस लेख के लिए आवेदन कर सकता है। अपना दावा सिद्ध करने की जिम्मेदारी अभ्यर्थी अपना अधिकार सिद्ध कर देता है तो उसे पदासीन घोषित कर दिया जाता है या पद को रिक्त घोषित कर दिया जाता है।

भारत के नये संविधान में सर्वोच्च न्यायालय को निदेश, आदेश या बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, अधिकार पृच्छा और उत्प्रेषण के लेख नागरिकों के मूल अधिकारों की सुरक्षा हेतु जारी करने की शक्ति दी गई है। उच्च न्यायालयों को भी अपने क्षेत्राधिकार की सीमाओं के अन्दर मूल अधिकारों को लागू करने या अन्य किसी प्रयोजन के लिए किसी व्यक्ति या प्राधिकरण को निदेश देने, आदेश या लेखा जारी करने का अधिकार दिया गया है। इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय का अधिकार इस संबंध में काफी व्यापक है क्योंकि वह परम्परागत लेखों के अतिरिक्त अन्य आदेश, आज्ञाएं तथा लेख भी जारी कर सकता है जिनको वह किसी अमुक मामले में आवश्यक समझे। दूसरे, ये लेख सरकार के विरुद्ध भी जारी किये जा सकते हैं जबकि इंगलैण्ड में इनको केवल व्यक्तियों के विरुद्ध ही जारी किया जा सकता है। तीसरे, उच्च न्यायालयों की शक्ति इस बारे में सर्वोच्च न्यायालय की शक्ति से विस्तृत है। सर्वोच्च न्यायालय केवल संविधान के भाग तीन में दिये गये मौलिक अधिकारों को लागू करने के लिये ही लेख जारी कर सकता है जबकि उच्च न्यायालय मौलिक अधिकारों को लागू कराने के अतिरिक्त अन्य प्रयोजनों के लिये भी लेख जारी कर सकता है।

15.2.5 न्यायिक नियन्त्रण की समस्याएं

कानून के शासन के अधीन उपलब्ध उपर्युक्त न्यायिक उपचार सरकारी निरंकुशता या शक्ति के दुरुपयोग के विरुद्ध एवं नागरिकों के अधिकारों तथा उनकी स्वतन्त्रताओं की रक्षा करने में प्रभावी नियन्त्रण की व्यवस्था करते हैं। परन्तु न्यायिक नियन्त्रण की कुछ सीमाएं हैं।

1. सर्वप्रथम सभी प्रशासनिक कार्य न्यायिक नियन्त्रण के अधीन नहीं होते। बहुत से ऐसे प्रशासनिक कार्य हैं जिनके पुनरीक्षण के लिये संविधान कानूनी अदालतों को आज्ञा नहीं देता। पुनः विधानमण्डल में भी कुछ ऐसी प्रवृत्ति देखी जाती है कि वह कानून द्वारा कुछ प्रशासनिक कार्यों को न्यायपालिका के अधिकार क्षेत्र से बाहर रखना चाहता है।

2. दूसरे, जो प्रशासकीय कार्य न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र में है उनमें भी अधिकारियों की ज्यादतियों के संबंध में न्यायपालिका अपनी ओर से कुछ नहीं कर सकती है। वह केवल किसी ऐसे व्यक्ति की प्रार्थना पर हस्तक्षेप कर सकती है जो संबंधित प्रशासनिक कार्य से प्रभावित हुआ है या जिसके प्रभावित होने की आशंका है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि प्रशासनिक ज्यादतियों के बहुत थोड़े से मामले ही पहुंच चुके होते हैं। मानव प्रकृति ऐसी है कि वह कानून के चक्कर में फंसना नहीं चाहती। मनुष्य कचहरी के चक्कर में फंसने के बजाय मामूली सा अन्याय सहना अधिक पसन्द करता है।

3. तीसरे, न्यायिक प्रक्रिया बड़ी धीमी और टेढ़ी-मेढ़ी होती है। इसकी तकनीकी बातें एक साधारण आदमी की समझ में नहीं आतीं और फिर उसकी क्रिया-विधि इतनी लम्बी है कि यह नहीं जाना जा सकता कि अदालत

कब अपना अन्तिम निर्णय देने की स्थिति में होगी। ऐसे भी उदाहरण हैं जब मामले अदालत में महीनों नहीं बल्कि सालों पड़े रहे हैं। इसमें संदेह है कि पीड़ित व्यक्ति न्यायिक उपचार के लिए अनिश्चित काल तक प्रतीक्षा करने का धीरज रख पायेगा। वह विलम्ब वाली क्रियाविधि उस पीड़ित व्यक्ति को संतुष्ट नहीं कर पायेगी और यह ठीक ही कहा गया है कि न्याय करने में देर का मतलब न्याय न करना है। देरी से तंग आकर वह अवश्य छोड़ बैठेगा और नौकरशाही का शिकार बन जाएगा।

4. चौथे, कभी-कभी न्यायिक उपचार अप्रभावी एवं नाकाफी होते हैं। अनेक मामलों में, विशेषत: व्यापार संबंधी गतिविधियों में, केवल प्रशासकीय निर्णय की घोषणा या प्रस्तावित निर्णय की अफवाह से ही इतनी हानि हो जाती है कि उसके विरुद्ध कोई न्यायीक उपचार उपलब्ध नहीं होता। यहां तक कि कोई मुकदमा भी दायर नहीं किया जा सकता।

5. पांचवे, सरकार न्यायालय द्वारा प्रदत्त उपचार को कानून या निगम बदल कर व्यक्ति को उस उपचार से वंचित कर सकती है। एक मुकदमे में उच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि अमुक प्रोफेसरों की सीनियर प्रोफेसरों के पदों पर पदोन्नत किया जाए क्योंकि इन पदों पर सीधी भर्त्ती उनकी सेवा की शर्त्तों का उनके अहित में उल्लंघन करती है। सरकार ने इन प्रोफेसरों की सीनियर प्रोफेसरों के पदों पर नियुक्त कर दिया और इस प्रकार न्यायालय के आदेश का पालन कर लिया, परन्तु कुछ समय के बाद सीनियर प्रोफेसरों के पदों को समाप्त कर दिया गया और पदोन्नत प्रोफेसरों को अपने स्थायी पदों पर वापिस भेज दिया गया।

6. छठे, न्यायिक कार्रवाई काफी खर्चीली होती है। इसलिए बहुत से व्यक्ति तो इनका लाभ ही नहीं उठा सकते। एक दावा दायर करने का मतलब है अदालत की फीस देना, वकील की फीस देना, गवाहों पर खर्च करना और तमाम तकलीफें सहना, जिन्हें समर्थ लोग ही बर्दाश्त करते हैं। इसलिये अधिकतर लोगों के लिये न्यायिक उपचार कम लाभ के ही हैं।

7. अन्तत: बहुत तकनीकी किस्म के प्रशासनिक मामलों में अदालतें शायद न्यायपूर्ण निर्णय भी न दे सकें, क्योंकि न्यायाधीश केवल कानून के विशेषज्ञ होते हैं और जो मामले उनके सामने जाँच के लिए आते हैं उनका तकनीकी ज्ञान उन्हें नहीं रहता। इसलिए इस प्रकार के मामले प्रशासनिक न्यायाधिकरणों के पास भेज दिये जाते हैं जिन्हें तकनीकी मामलों में दक्षता प्राप्त होती है। आधुनिक प्रवृत्ति ऐसे न्यायाधिकरण स्थापित करने की ओर है।

15.3 सारांश

प्रजातन्त्र में न्यायपालिका नागरिक अधिकारों की रक्षा करती है। लेकिन लोक प्रशासन पर न्यायपालिका अपना नियन्त्रण कुछ परिस्थितियों, सीमाओं और निर्धारित अवसरों पर ही कर सकती है। प्रो० एल० डी० व्हाइट ने पांच ऐसे अवसरों का संकेत दिया है जिनमें न्यायपालिका हस्तक्षेप कर सकती है। वे हैं–

1. अधिकार क्षेत्र का अभाव (2) अधिकारी के विवेक का दुरुपयोग या सत्ता का दुरुपयोग (3) वैधानिक गलतियां (4) तथ्य की प्राप्ति में त्रुटि (5) समुचित प्रक्रिया की गलती। प्रशासन पर नियन्त्रण रखने के लिए न्यायपालिका के पास निम्नलिखित उपाय उपलब्ध हैं–1. सरकार के विरुद्ध अभियोग (2) सरकारी अधिकारियों के विरुद्ध अभियोग (3) प्रशासनिक कार्यों तथा निर्णयों का न्यायिक पुनरावलोक (4) कानूनी अपील। इसके अलावा न्यायपालिका के पास कुछ असाधारण न्यायिक उपचार भी उपलब्ध हैं। न्यायिक नियन्त्रण की उपयोगिता से इन्कार नहीं किया जा सकता है लेकिन प्रशासन पर न्यायिक नियन्त्रण की गई सीमाओं के मार्ग में अवरोध आ जाता है। नियन्त्रण के लिए इसके पास आरंभिक शक्ति नहीं है। इसके अलावा न्यायिक प्रक्रिया है। न्यायिक प्रक्रिया बहुत अधिक महंगी भी पड़ती है। इन बाधाओं और समस्याओं के बावजूद प्रजातांत्रिक, संसदात्मक, अध्यक्षात्मक तथा विश्व की समस्त शासन प्रणालियों में कमोबेश न्यायपालिका के नियन्त्रण को अनिवार्य माना

गया है। भारत के संदर्भ में तो निश्चय ही सर्वोच्च न्यायालय नागरिक स्वतन्त्रता और मौलिक अधिकारों का रक्षक और संरक्षक दोनों ही है। अत: स्वतन्त्र और न्यायपालिका सफल और कुशल प्रजातन्त्र की पहली पहचान है।

15.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ कठिन शब्द

1. न्यायिक पुनरावलोकन
2. वैधानिक त्रुटि
3. बन्दी प्रत्यक्षीकरण
4. परमादेश
5. निषेधाज्ञा
6. उत्प्रेषण
7. अधिकार-पृच्छा

15.5 अभ्यास के प्रश्न

(क) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. लोक प्रशासन पर न्यायिक नियन्त्रण की व्याख्या कीजिए।

(ख) लघु उत्तरीय प्रश्न

1. न्यायिक हस्तक्षेप की दशाओं पर टिप्पणी लिखें।

2. असाधारण न्यायिक उपचार पर टिप्पणी लिखें।

15.6 प्रस्तावित पाठ

1. डॉ० एम० पी० शर्मा : **लोक प्रशासन सिद्धान्त एवं व्यवहार,** किताब महल, इलाहाबाद
2. वस्थी और महेश्वरी : **लोक प्रशासन,** लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
3. विष्णु भगवान एवं विद्याभुषण : **लोक प्रशासन के सिद्धान्त,** एस० चांद एण्ड कम्पनी लिमिटेड

◆◆◆

सामान्यवादी बनाम विशेषज्ञ वाद-विवाद

पाठ-संरचना

16.0 उद्देश्य
16.1 विषय प्रवेश
16.2 सामान्यवादी बनाम विशेषज्ञ वाद-विवाद
16.2.1 इन शब्दों का अर्थ
16.2.2 भारत में विवाद की पृष्ठभूमि
16.2.3 सामान्यवादियों के पक्ष में तर्क
16.2.4 विशेषज्ञों के समर्थन में तर्क
16.2.5 प्रशासकीय सुधार आयोग का विचार
16.2.6 निष्कर्ष
16.3 सारांश
16.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ कठिन शब्द
16.5 अभ्यास के प्रश्न
16.6 प्रस्तावित पाठ

16.0 उद्देश्य

भारतीय लोक सेवाओं का गठन परम्परागत रूप से ब्रिटिश पद्धति के आधार पर हुआ है और उसी की भांति वह उच्च प्रशासकीय वर्ग एवं अन्य अधीनस्थ प्राविधिक सेवाओं में विभाजित है। भारतीय लोक प्रशासन की एक विशेषता सामान्यवादी एवं विशेषज्ञों का वाद-विवाद भी रही है। सामान्यवादी से तात्पर्य ऐसे लोक सेवक से है जिसका कोई विशेष आधार या पृष्ठभूमि नहीं होती और जो सरलता से शासन के एक विभाग या शाखा से दूसरे में स्थानान्तिरत किया जा सकता है। जैसे–आई० ए० एस०। इसके विपरीत विशेषज्ञ से तात्पर्य उस शक्ति से है जिसे किसी क्षेत्र-अथवा कार्य विशेष-यथा कृषि, चिकित्सा, यान्त्रिकी शिक्षा आदि में विशेष योग्यता प्राप्त हो। विशेषज्ञ को उसकीं एवं प्रशिक्षण के आधार पर सरलतापूर्वक पृथक किया जा सकता है । इस लेशन प्लान का उद्देश्य इसी वाद-विवाद की तह में जाना है। सबसे पहले सामान्यवादी और विशेषज्ञ शब्दों का अर्थ हमें जानना होगा। फिर दोनों पक्षों के तर्क को समझना होगा। इसी संदर्भ में प्रशासकीय सुधार आयोग के विचार की विवेचना की जाएगी। सबसे अंत में सारांश दिया जाएगा। साथ-ही-साथ कुछ कठिन शब्द अभ्यास के लिए कुछ प्रश्न और कुछ उपयोगी पुस्तकों के नाम भी दिए जायेंगे ।

16.1 विषय प्रवेश

भारतीय लोक सेवाओं की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि लोक सेवा में सामान्यवादी कर्मचारी की स्थिति वरिष्ठ होती है। कमोबेश नीति-निर्धारण एवं विचार तथा निर्णय संबंधी पदों पर केन्द्रीय एवं राज्यों के सचिवालयों में सामान्यवादी अधिकारियों का वर्चस्व है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें आई० ए० एस० अधिकारियों ने विभिन्न राज्यों की सरकारों में शिक्षा, स्वास्थ्य निदेशक या कृषि निदेशक और वन विभाग के मुख्य संरक्षणकर्त्ता के रूप में कार्य किया है। वह विशेषज्ञों का नेतृत्व करता है। सामान्यवादी प्रशासक की श्रेष्ठता के कई कारण हैं। सामान्यवादी अधिकारियों को विभिन्न पदों पर कार्य कर चुकने के कारण व्यापक प्रशासकीय अनुभव प्राप्त होता है। सामान्यवादी प्रशासकों को राजस्व एवं न्याय संबंधी अनुभव प्राप्त होते हैं।

16.2 सामान्यवादी बनाम विशेषज्ञ वाद-विवाद

पिछले दिनों सामान्यवादी बनाम विशेषज्ञ विवाद चरम सीमा पर पहुँच गया है। विशेषज्ञों के मन में यह भावना काम करती है कि यद्यपि प्राविधिक योग्यता एवं कौशल में वे सामान्य कहे जाने वाले व्यक्तियों से श्रेष्ठतर हैं तथापि उन्हें प्रशासन में उचित स्थान प्राप्त नहीं है। इस विषय पर कि क्या विशेषज्ञ सामान्य से श्रेष्ठतर है किसी निर्णय पर पहुंचने से पूर्व इन दोनों शब्दों के अर्थ तथा इस विवाद की पृष्ठभूमि को जान लेना वांछनीय होगा।

16.2.1 इन शब्दों का अर्थ

विधान एवं प्रौद्योगिकी में इन शब्दों के स्पष्ट अर्थ हैं। सामान्यवादी वह व्यक्ति है जिसे विज्ञान या प्रौद्योगिकी का केवल मामूली ज्ञान होता है। वह विज्ञान या प्रौद्योगिकी को व्यापक दृष्टि से जानता है और सामान्य रूप से परामर्श दे सकता है। वह विज्ञान अथवा प्रौद्योगिकी की विभिन्न शाखाओं एवं इनके क्षेत्रों के मध्य पुल का कार्य करने की स्थिति में होता है और इस प्रकार वह इन क्षेत्रों के कर्मचारियों को विज्ञान या प्रौद्योगिकी की समग्र रूप से प्रगति के लिये काम करने योग्य बनाता है। डॉ० एल० डी० व्हाइट के शब्दों में, एक सामान्यवादी कार्यकारिणी शाखा का आजीवन व्यक्ति होता है जो अपने अनुभव की विशालता एवं मानसिक गुणों के कारण विभिन्न निकायों या अधिकारियों के मध्य सम्बन्ध की जटिल समस्याओं का प्रभावी रूप से समाधान कर सकता है तथा कठिन समस्याओं को बड़े सुन्दर ढंग से निबटा सकता है। सामान्यवादी नीति निर्माण करने वाला व्यक्ति नहीं होता। वह क्रियाओं के सुविधाकरण एवं समन्वयीकरण से वास्ता रखता है। वह मध्य प्रबन्ध के स्तरों या शिक्षा प्रबन्ध के निम्न स्तरों पर कार्य करता है। ग्रेट ब्रिटेन में इन सेवाओं को प्रशासकीय श्रेणी कहा जाता है। अमेरिका में इन्हें किसी विशिष्ट श्रेणी से नहीं जाना जाता, हालांकि ये सभी बड़े विभागों में फैले होते हैं। कभी-कभी ये सामान्य व्यक्ति राजनीतिक पदों पर भी पहुँच जाते हैं परन्तु सामान्य तौर से वे आजीवन सेवा में ही ठहरे रहते हैं।

दूसरी ओर, विशेषज्ञ को विज्ञान या प्रौद्योगिकी की किसी एक विशिष्ट शाखा का गूढ़ ज्ञान होता है। वह अपने सीमित क्षेत्र में गूढ़ से गूढ़तर ज्ञान की प्राप्ति में लगा रहता है। दूसरे शब्दों में, विशेषज्ञ अपने ज्ञान की सीमा के कारण अल्प-दृष्टि वाला व्यक्ति होता है। उसकी रुचि विज्ञान या प्रौद्योगिकी के एक लघु क्षेत्र तक सीमित होती है और वह उसी क्षेत्र में गहराई तक पहुंचने का निरन्तर प्रयास करता रहता है। वह विज्ञान या प्रौद्योगिकी का व्यापक दृष्टिकोण नहीं लेता। वह समस्याओं को सीमित दृष्टिकोणों से देखता है। सामान्यवादी की भांति वह पूर्णता से भाग की ओर नहीं जा सकता। विशेषज्ञ को ऐसा व्यक्ति कहा गया है जो कम-से-कम के बारे में अधिक से अधिक जानता है।

सामान्यवादी का दृष्टिकोण सदा व्यापक होता है। वह पूर्ण से भाग की ओर जाता है। उसका प्रशिक्षण किसी विशिष्ट क्षेत्र का नहीं होता अपितु सभी ओर निगरानी रखने का होता है। उसे विभिन्न क्षेत्रों की अन्तक्रिया

पर ध्यान देना होता है। इस प्रकार सामान्य व्यक्ति का उपागम समन्वयकारी होता है, जबकि विशेषज्ञ का उपागम गहनतर होता है। कभी-कभी सामान्य व्यक्ति भी किसी विशिष्ट क्षेत्र का गूढ़ ज्ञान ले सकता है परन्तु इससे उसके सामान्य उपागम में कोई परिवर्त्तन नहीं आता। विशेषज्ञों को संसार की बातों में रुचि हो सकती है और उसका दृष्टिकोण भी सामान्यवादी की भांति समन्वयकारी हो सकती है परन्तु ऐसे विशेषज्ञ केवल अपवाद हैं।

16.2.2 भारत में विवाद की पृष्ठभूमि

प्रशासन में विशेषज्ञ एवं सामान्यकारी के स्थान के विषय में विवाद उतना ही पुराना है जितना स्वयं प्रशासन। सामान्यवादी साधारणतया भारत में ब्रिटिश राज की देन है। ब्रिटिश शासक कुलीन परिवारों के नवयुवकों को जो उदार शिक्षा प्राप्त होते हैं और जो विदेशी शासन को कायम रखने में सहायक थे, उच्च सार्वजनिक पदों पर नियुक्त करते थे। भारतीय सिविल सेवा से सम्बन्धित नवयुवक इस प्रकार ब्रिटिश साम्राज्य के संरक्षक थे। उन्हें निरंकुश बनने का प्रशिक्षण दिया जाता था जिससे उनके गौरवमय पद का मान बना रहे। स्वतन्त्र भारत में आई० सी० एस० का स्थान आई० ए० एस० ने ले लिया है। आई० ए० एस० के नये अधिकारियों से यह आशा की गई कि उनके विचार आई० सी० एस० वालों की भांति अफसराना नहीं होंगे अपितु वे स्वयं को जनता का सेवक समझकर भारत की राष्ट्रीय एकता को उन्नत करने तथा प्रादेशिक सघर्षों को दूर करने में योग देंगे। यह व्यवस्था की गई कि ये अधिकारी सर्वप्रथम जिलों में कार्य करेंगे, तदुपरांत वे राज्यों की राजधानियों में कार्यभार संभालेंगे और बाद में केन्द्र में जायेंगे। यह भी निश्चय किया गया कि राज्य के आधे अधिकारी राज्य से बाहर से आयेंगे। ये योजनाएं प्रंशसनीय थी। परन्तु राष्ट्रीय पुनर्निर्माण एवं विकास के युग के प्रभाव के साथ-साथ उत्पन्न शासकीय गतिविधियों के तीव्र एवं बहुमुखी विकास पर इन योजनाओं ने ध्यान नहीं दिया। विकासशील कार्यों के विस्तार के कारण सरकार को अपनी सेवा में अनेक वैज्ञानिकों इंजीनियरों, कारीगरों, डॉक्टरों एवं शिल्पियों को भर्त्ती करना पड़ा। इन शिल्पियों एवं विशेषज्ञों ने देश के विकास कार्यों में काफी योग दिया। परन्तु इन्हें केन्द्रीय सचिवालय के उच्च पदों पर पहुंचने का अवसर न मिल सका।

इससे यह विवाद उत्पन्न हुआ कि इन विशेषज्ञों को प्रशासकीय पदक्रम में शिखर पदों पर पहुंचने का अवसर क्यों न मिले ? प्रशासकीय सेवाओं को ही क्यों प्रमुखता दी जाये ? यह कहा गया कि प्रशासन कोई सरल विषय नहीं है जिसे उदार शिक्षा प्राप्त व्यक्ति कुशलतापूर्व चला लेगा। प्रशासन एक जटिल विषय है। वह पुरानी कथा जिसमें एक राजा ने अपने नाई से जो राजा की सेवा जब राजा सोया होता था, बिना परेशान किये कर देता था, प्रसन्न होकर उसे तहसीलदार बना दिया था, जटिल प्रशासन के वर्त्तमान युग के लिए ठीक नहीं बैठती। आधुनिक जटिल प्रशासकीय प्रक्रियाओं के लिये सेवा नियमों एवं शर्त्तों के कुशल वर्णन की आवश्यकता है। आधुनिक प्रशासन को विशेषज्ञ भी उतनी ही कुशलतापूर्वक चल सकता है, जितना कि सामान्यवादी।

विशेषज्ञ बनाम सामान्यवादी विवाद को सार्वजनिक उद्योगों में शिखरीय प्रबन्धक पदों की वास्तु प्रतियोगिता के कारण भी और बल प्राप्त हुआ। प्रशासकीय सुधार आयोग की रिपोर्ट ने भी इस विवाद को आगे बढ़ाया। इस रिपोर्ट में कहा गया कि भारतीय प्रशासकीय सेवा अब सामान्य सेवा नहीं होनी चाहिए। इसका कार्यात्मक कर्त्तव्य अर्थात् राजस्व प्रशासन होना चाहिए। यदि आयोग की इस सिफारिश को स्वीकार कर लिया जाता है तो विशेषज्ञ ही प्रशासन में रहेंगे, सामान्य व्यक्ति नहीं। परन्तु सामान्यों की श्रेणी इस विचार से सहमत नहीं हैं। सामान्यों एवं विशेषज्ञों के वेतन दरों एवं पदों में जो अन्तर है उससे भी काफी मनमुटाव है। किसी निष्कर्ष पर पहुँचने से पूर्व हम दोनों प्रकार के आलोचकों के तर्कों का वर्णन करें।

16.2.3 सामान्यवादियों के पक्ष में तर्क

1. सामान्यवादी में व्यापक दृष्टि तथा नेतृत्व योग्यता होती है। उसमें कल्पनाशक्ति, अभिक्रम उद्योग सूझ तथा निर्णयों को शीघ्र करने के सामर्थ्य होते हैं। अतएव ऐसा व्यक्ति ही मंत्री को किसी योजना के राजनीतिक पहलुओं पर परामर्श देने योग्य होता है। योजना के तकनीकी पहलुओं पर निम्न स्तरों पर विचार हो लिया होता है। दूसरी ओर, विशेषज्ञ की दृष्टि संकुचित होती है, उसके दृढ़ विचार होते हैं। अतएव उसके विशिष्ट ज्ञान के

कारण यह योजना को व्यापक दृष्टि से देखने योग्य नहीं होता । वह उसे अपनी तकनीकी दृष्टि से ही देखता है । उच्चतर स्तरों पर कार्य को कराने के लिये सामान्य, न कि विशिष्ट ज्ञान की जरूरत है ।

2. सामान्य व्यक्ति का उपागम यदि साधारण व्यक्ति वाला भी उपागम है तब भी प्रशासन के लिये देन है क्योंकि इससे प्रस्तावों एवं निर्णयों को इस प्रकार सामान्य शब्दावली में प्रकट किया जाता है कि निम्न स्तरों के कर्मचारी इनको भली-भांति समझ लेते हैं और ठीक ढंग से क्रियान्वित करते हैं ।

3. सामान्यवादी मंत्रियों, विधायको एवं विशेषज्ञों द्वारा उत्पन्न गन्दगी को दूर करता है तथा इस गन्दगी से उत्पन्न जनक्रोध को शान्त करता है जो देश के लिये हानिकारक हो सकता है । इस प्रकार वे अहं के शिकार न होकर जनता की सच्चे अर्थ में सेवा करते हैं । एक राजनीतिज्ञ चुनाव के समय लोगों से कुछ वायदे करता है परन्तु निर्वाचित हो जाने पर उसे जन क्रोध का सामना करना पड़ता है । इसी प्रकार, विधायक ऐसा कानून पास कर देते हैं जिससे जनता घृणा करती है । सामान्यवादी को पुनः संकट का सामना करना पड़ता है । शिल्पी एक फैक्टरी का निर्माण करता है जो अच्छी तरह काम नहीं करती । संसद सदस्यों के हाथों मंत्री की खबर ली जाती है । यह सामान्यवादी ही है जो मंत्री को ठोस तथा और विश्वसनीय उत्तर पहुंचाकर उसकी संसद में रक्षा करता है । ऐसी परिस्थितियों से निबटने के लिये सूझ-बूझ, व्यापक दृष्टिकोण एवं नमनीयता के गुणों की आवश्यकता होती है जो विशेषज्ञों में नहीं होते ।

4. यह भी तर्क दिया गया है कि राज्यों तथा केन्द्र में सचिवालयीय एवं विभागीय पदों के लिये सामान्यवादी अपेक्षाकृत अधिक योग्य हैं क्योंकि उसे परामर्शदाता का पार्ट अदा करना होता है । सरकार को महत्वपूर्ण नीति के मामलों पर परामर्श देने से पूर्व परामर्शदाता को सम्बन्धित समस्या के सर्वांगीण स्वरूप से भली-भांति परिचित होना चाहिये । शिवारामन के शब्दों में यदि परामर्शदाता को बुनियादी स्तरों पर क्षेत्र का ज्ञान एवं अनुभव और साथ ही प्रशासन की समग्ररूप से व्यापक समझ नहीं है तो उसका परामर्श अर्थहीन है । विशेषज्ञ को प्रशासन के केवल एक विशिष्ट पहलू का ही ज्ञान प्राप्त होता है । सामान्यवादी को राज्य के विभिन्न भागों में राजनीतिक शक्तियों तथा उनकी अंतःक्रिया का ज्ञान तथा क्षेत्र का व्यापक अनुभव होता है । अतः वह विशेषज्ञ की अपेक्षा उत्तम परामर्शदाता का कार्य कर सकता है ।

5. सामान्यवादियों के समर्थकों ने यह भी तर्क दिया है कि भारत की संघीय संरचना के लिये अखिल भारतीय सेवा श्रेणी उपागम ही उपयुक्त है । राज्य बहुधा यह शिकायत करते हैं कि केन्द्र राज्यों की स्थानीय कठिनाइयों एवं समस्याओं तथा क्षेत्रीय असमानताओं पर ध्यान नहीं देता । यदि केन्द्रीय परामर्शदाता को अपने विभाग से सम्बन्धित क्षेत्र की दशाओं का ज्ञान नहीं है तो भारत जैसे विशाल देशों में संघ प्रणाली के असफल होने की आशंका है । सामान्यवादी जिससे देश के किसी भी भाग में सेवा करने की आशा की जाती है, को क्षेत्र का विस्तृत ज्ञान होता है । अतएव यह लोगों की आवश्यकताओं को अच्छी तरह पूरा कर सकता है । परन्तु यह बात मानी जा सकती है कि कुछ क्षेत्रों में विशेषज्ञ अपने विशेष ज्ञान के कारण अधिक अच्छा पराशर्मदाता सिद्ध हो सकता है । ऐसे क्षेत्र काफी सीमित हैं और इन क्षेत्रों में विशेषज्ञों को पूर्व ही उचित स्थान प्राप्त है ।

6. सामान्यवादी ही सार्वजनिक उद्योगों में प्रबन्धक पदों के याग्य है । एक ऐसे व्यक्ति जिसे नियत कार्यविधि के लिये निजी उद्योग से लाकर लगाया गया है, की उपेक्षा सामान्यवादी को उद्योग के प्रति अधिक लगाव होता है । सार्वजनिक उद्योग में प्रबन्धक को वस्तुतः प्रशासकीय कला का प्रयोग करना होता है जिनमें वह निपुण होता है ।

7. सामान्यवादी विशेषज्ञ की अपेक्षा अधिक सफल सिद्ध हो सकता है क्योंकि विशेषज्ञ का दृष्टिकोण संकुचित होता है । इसके अतिरिक्त, सेवाकालीन प्रशिक्षण द्वारा सामान्यवादी समय की मांग के अनुकूल ढाका जा सकता है जिससे वह बढ़ते हुए कार्यक्षेत्रों का भली प्रकार प्रबन्ध कर सके ।

8. सामान्यवादी प्रजातान्त्रीय संरचना के अधिक उपयुक्त है । वह दूसरों के विचारों को खुले दिल से सुनता है और यदि उसे इन विचारों में सार दिखाई देता है तो इनको अंगीकार कर लेता है । उसमें अहं की भावना नहीं

होती। वह मन्त्रियों से सहयोग करता है और उनके स्वामित्व को इच्छापूर्वक स्वीकार करता है। दूसरी ओर, विशेषज्ञ कम सहयोगी उसमें अपनी बात को मनवाने का हठ होगा जिससे प्रशासन की दक्षता को हानि हो सकती है।

16.2.4 विशेषज्ञों के समर्थन में तर्क

भारत में प्रशासकीय सुधार आयोग तथा यू० के० में फूलटॉन समिति दृढ़रूप से यह विचार रखते थे कि प्रौद्योगिकी एवं निरंतर विकासमान विज्ञान के इस युग में विभागों के अध्यक्ष सामान्यों के स्थान पर विशेषज्ञों को बनाया जाय। शिल्पियों के समर्थकों के भी ऐसे ही विचार हैं। इनके तर्क निम्नलिखित हैं :

1. पहला तर्क यह दिया गया है कि यदि तकनीकी विषयों के विभाग का सचिव सामान्य व्यक्ति है जो अविज्ञ मंत्री को परामर्श देता है तो यह अंधे द्वारा अंधे को रास्ते दिखलाने वाली जैसी बात है। यह एक विचित्र बात है कि अणुशक्ति के मंत्री को परामर्श देने वाला व्यक्ति स्वयं एक अविज्ञ-सामान्य है जिसे अणुशक्ति के तत्वों का कोई ज्ञान नहीं है जबकि इस विषय पर विशिष्ट ज्ञान प्राप्त व्यक्ति को गौण स्थान प्राप्त है। इससे विज्ञान की दक्षता पर बुरा प्रभाव पड़ेगा।

2. यह भी कहना गलत है कि सामान्यवादी के पास सूझ-बूझ का भण्डार होता है और वह हर योजनाओं एवं प्रायोजनाओं की आर्थिक एवं राजनीतिक लपेटों को समझ सकता है तथा इनका मूल्यांकन एवं समन्वयीकरण कर सकता है। यह भी सामान्यवादियों द्वारा प्रचारित केवल एक ढोंग है कि वे ही जनता को इन योजनाओं से परिचित करा सकते हैं। लोक सेवा आयोग की रिपोर्ट के मूल्यांकन में यह पता लगता है कि भारतीय प्रशासकीय सेवा में सतर्क होने वाले व्यक्तियों में से केवल 40 प्रतिशत ऐसे व्यक्ति थे जिन्होंने प्रथम श्रेणी में ग्रेजुएट की डिग्री प्राप्त की जबकि अन्य तकनीकी विभागों में नियुक्त ऐसे व्यक्तियों की संख्या दुगुनी थी। इससे यह आभास होता है कि शिल्पियों की अपेक्षा भारतीय प्रशासकीय सेवा के व्यक्ति अनिवार्य रूप से अधिक मानसिक योग्यता प्राप्त नहीं होते अपितु शिल्पियों का मानसिक स्तर अधिक उच्च होता है। अपनी तकनीकी उपलब्धियों एवं कठोर तथा गहनतम प्रशिक्षण के कारण शिल्पी योजनाओं और प्रयोजनाओं को अच्छी प्रकार चला सकते हैं तथा लोगों को इनके बारे में अच्छी तरह समझा सकते हैं। सामान्यवादी तो एक विभाग से दूसरे विभाग में बदलते रहने के कारण किसी भी विभाग का विशिष्ट ज्ञान एवं अनुभव प्राप्त नहीं कर पाते।

3. यह भी तर्क दिया गया है कि हमारे सार्वजनिक उद्योग जिनके अध्यक्ष सामान्यवादी हैं कुप्रबन्ध के केन्द्र हैं। इससे इन उद्योगों को भारी आर्थिक हानि हुई है। वे घाटे में चल रहे हैं। यद्यपि इनमें से कुछेक उद्योगों को बाजार में एकाधिकार प्राप्त है तब भी इनमें लाभ नहीं होता। हमारे विशाल फौलाद और खाद के कारखाने घाटे में चल रहे हैं जबकि निजी उद्योगपति अपने इन्हीं कारखानों से अपार लाभ कमा रहे हैं। डॉ० भाभा जैसे वैज्ञानिक ने अपनी प्रशासकीय योग्यता का परिचय दिया। उसने अणुशक्ति आयोग को सही दिशा दी और इसे अपने पांव पर खड़ा कर एक उपयोगी संगठन में विकसित किया। इस पर सारे देश को गौरव है।

4. यह भी तर्क ठीक नहीं है कि सामान्यवादी ही समस्याओं के आर्थिक एवं राजनीतिक पहलुओं को समझ सकते हैं। समस्या का राजनीतिक पहलू प्रशासक से सम्बन्ध नहीं रखता, यह तो राजनीतिक नेतृत्व अर्थात् मंत्री का क्षेत्र है, जहां अच्छी प्रकार समझ सकता है। सामान्यवादी का विद्वान होने का दावा केवल एक अहं है।

5. यह भी कहा गया है कि कल्याणकारी राज्य के विचार के उद्भव के साथ इस विचार में भी परिवर्तन आ गया है कि प्रशासक का आधुनिक प्रशासन में क्या स्थान है। वह अब केवल कानून एवं व्यवस्था को बनाये रखने तथा अपने अधीनस्थों के कार्यों पर निगरानी रखने तक से ही सम्बन्धित नहीं है, अपितु उसे सरकार की ओर से कल्याणकारी कार्य भी करने हैं। उसे देश के आर्थिक जीवन का प्रबन्ध करना है। इस बढ़ते हुए कार्यक्षेत्र ने उसके अहं को बढ़ा दिया है जिस कारण वह जनता से दूर हो चला है। जनता तथा सरकार के बीच फासला जो विदेशी शासन की देन है अब भी मौजूद है। भारतीय प्रशासन नौकरशाही द्वारा, नौकरशाही के लिए प्रशासन है। जनता इससे दूर जा पड़ी है। हमारे प्रशासक स्वयं को प्रजातान्त्रीय समाज की मांगों के अनुकूल नहीं ढाल

सके हैं। अत: अब समय आ गया है कि तेजी से बदलते हुए प्रौद्योगिकी युग की चुनौतियों का मुकाबला करने के लिए सामान्यों के स्थान पर विशेषज्ञों को लाया जाये।

सामान्यवादी की अवधारणा की आलोचना करते हुए फूलटोन समिति ने कहा, इस अवधारणा के संहारक परिणाम हुए हैं। इससे कार्य में कुशलता नहीं आ सकती क्योंकि व्यक्ति किसी एक पद पर दो या तीन वर्षों से अधिक नहीं ठहरते और उन्हें दूसरे पद पर कभी-कभी नितांत विभिन्न क्षेत्र में भेज दिया जाता है। सामान्यवादी की योग्यता के विश्वास का सभी स्तरों पर एवं सेवा के सभी क्षेत्रों में भंडा फूट चुका है। अतएव समिति ने सिफारिशों कि विशेषज्ञों को अधिक महत्वपूर्ण स्थान दिया जाये।

6. विशेषज्ञों के समर्थको का यह भी तर्क है कि जिन व्यक्तियों ने अपने विशिष्ट क्षेत्र में गहनतम अध्ययन एवं प्रशिक्षण प्राप्त किया है उन्हें प्रशासकीय संबंध में नीचे स्तर पर नहीं धकेल दिया जाना चाहिए। उन्हें नीति-निर्माण कार्य में महत्वपूर्ण स्थान मिलना चाहिए।

7. यह तर्क भी गलत है कि सामान्यवादी को प्रशासन के संपूर्ण क्षेत्र का विस्तृत ज्ञान प्राप्त होता है। ऐसे प्रशासक जो किसी भी क्षेत्र में सफल हो सकते हैं विरले ही होते हैं। मनुष्य का ज्ञान सीमित है अतएव यह कहना कि वह ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र का ज्ञाता है, मानव प्रकृति के विपरीत है। एक सामान्य को कृषि, सिंचाई, सुरक्षा, खनिज पदार्थ, अणुशक्ति, वित्त आदि सबका ज्ञान हो, ऐसा कठिन है। अतएव विशेष विभागों के अध्यक्ष विशिष्ट योग्यता प्राप्त व्यक्ति ही होने चाहिए।

8. एक अविज्ञ राजनीतिज्ञ को परामर्श देने के लिये विज्ञ व्यक्ति होना चाहिए। वह जी हजूर नहीं होगा। अपने विशिष्ट ज्ञान एवं व्यावसायिक प्रशिक्षण के आधार पर वह अपने राजनीतिक स्वामी को अच्छी प्रकार विश्वस्त करा सकता है और इस तरह सभी मार्ग का पालन हो सकता है। अविज्ञ एवं विज्ञों के आदर्श मिलन से ही प्रजातन्त्र सफलतापूर्वक कार्य कर सकता है।

16.2.5 प्रशासकीय सुधार आयोग का विचार

जैसा कि पूर्व ही कहा गया है प्रशासकीय सुधार आयोग ने सामान्यवादी बनाम विशेषज्ञ विवाद पर विचार किया। कार्मिक प्रशासन पद की दी गई अपनी रिपोर्ट में उन्होंने इस बात पर बल दिया कि प्रशासन के उच्च स्तरों पर तकनीकी व्यक्तियों को नियुक्त किया जाये क्योंकि अब सरकार के कार्यों में काफी परिवर्त्तन आ गया है। इस दिशा में उन्होंने निम्नलिखित सिफारिशें पेश कीं –

1. नीति निर्माण में परामर्श देने वाले पदों को भरने के लिये समुचित योग्यता एवं अनुभव प्राप्त व्यक्तियों को नियुक्त करने की एक युक्तियुक्त प्रणाली अपनायी जाये।

2. वरिष्ठ प्रबंधक पदों के लिये सभी प्रासंगिक स्रोतों-सामान्य एवं विशेषज्ञों से चयन किया जाय। सभी सेवी श्रेणियों में योग्यता को प्रोत्साहित किया जाये, विशेषतया ऐसी श्रेणियों में जिनके अधिकारी प्रशासन के वरिष्ठ पदों पर अभी तक नियुक्त नहीं किये जाते।

3. युक्तियुक्त वेतन क्रम की व्यवस्था की जाये जो प्रत्येक पद के दायित्वों को प्रगट करें।

4. कार्मिक प्रशासन में मनोबल को उन्नत करने हेतु निम्न श्रेणियों के कर्मचारियों को उनकी योग्यता एवं उपलब्धि के आधार पर उच्च पदों पर पहुँचने का अधिक अवसर दिया जाये।

5. आयोग ने उच्च सिविल सेवाओं को दो श्रेणियों में विभाजित किया–(1) क्षेत्र में पद तथा (2) मुख्यालय में पद। क्षेत्र में पदों पर तकनीकी व्यक्तियों की नियुक्ति होनी चाहिए जिनमें न केवल ऐसे व्यक्ति शामिल हैं जिन्होंने सेवा में आने से पूर्व तकनीकी शिक्षा प्राप्त की है, जैसे इंजीनियर, बल्कि ऐसे व्यक्ति भी शामिल हैं जिनको प्रशासन में आने के बाद विशेष प्रशिक्षण (यथा आय कर, लेखा आदि) दिया गया है। आयोग ने सिफारिश की कि भारतीय प्रशासकीय सेवा के अधिकारियों को भू-राजस्व प्रशासन, शान्ति एवं व्यवस्था

प्रशासन एवं नियमनकारी कार्य दिये जायें। कुछ सचिवालय पदों पर जिनका विशेष कार्यों से सम्बन्ध है, व्यावसायिक व्यक्तियों यथा इंजीनियरों, वैज्ञानिकों, डाक्टरों तथा अर्थशास्त्रियों की नियुक्ति की जाये।

आयोग ने ठीक ही कहा, सामान्यवादी का अपना स्थान है और एक महत्वपूर्ण स्थान है, ऐसा ही स्थान विशेषज्ञ का है, वैज्ञानिक का है, एवं शिल्पी का है। एक विकासशील प्रजातंत्र में जब तीव्र सामाजिक-आर्थिक विकास के लिये कटिबद्ध है, प्रशासन को उतना ही प्रभावी होना चाहिए जितना सक्षम। यदि जनता के कल्याण और उसकी खुशी के लिये प्रशासन का सक्षम होना जरूरी है तो देश के उत्थान एवं उसकी श्रेष्ठता के लिए इसका प्रभावी होना जरूरी है। इन दोनों उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये विशेषज्ञों एवं सामान्यवादियों दोनों की सेवाओं की समान आवश्यकता है। आयोग यह सुझाव देना चाहता है कि सामान्यवादियों के लिये अधिक लगाव के स्थान पर सम्बन्धित क्षेत्र में विशेष योग्यता प्राप्त व्यक्तियों को प्राथमिकता दी जाय।

16.2.6 निष्कर्ष

प्रशासकीय सुधार आयोग की सिफारिशें विचार योग्य हैं। आयोग ने समस्या का ठीक समाधान किया है। सामान्यवादी पर अत्यधिक भरोसा प्रशासन की दक्षता के लिये हानिकारक है। उच्च पदों पर विशेषज्ञों एवं शिल्पी कार्मिकों को लाने की घोर आवश्यकता है। परन्तु उन्हें केवल परामर्शदाता कार्य सुपूर्द किया जाये। उन्हें नीति निर्माणकारी पद सोपान में समन्वित न किया जाये, क्योंकि सम्भव है कि वे अन्य विभागों से सम्बन्धित व्यक्तियों एवं मामलों को ठीक प्रकार से न समझ सकें। अतएव यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्रशासकीय सेवाओं को अब केवल मुट्ठी भर सामान्यवादियों की सम्पत्ति न समझा जाय। उपलब्ध योग्यता का पूर्ण लाभ उठाने के लिये सामान्यों एवं विशेषज्ञों के कृत्रिम भेदभाव को समाप्त किया जाये। वेतनमानों की समानता तथा उच्च पदों की विशेषज्ञों द्वारा मांग पर सामान्यवादियों एवं विशेषज्ञों के बीच जो विवाद खड़ा हो गया है, उसका अंत हो सकता है। यदि सरकार प्रशासकीय सुधार आयोग की सिफारिशों पर समुचित ध्यान देकर विशेषज्ञों को भी प्रशासन क्रम में उचित स्थान दे जिसके लिये वे पूर्ण योग्य है। अंतरसेवा सहयोग समय की पुकार है। ऐसा सहयोग अधिक लाभप्रद हो सकता है यदि यह श्रेष्ठता एवं हीनता की भावना पर आधारित न होकर पारस्परिक सद्भावना एवं सम्मान पर आधारित हो। ऐसा पारस्परिक मान-सम्मान तभी सम्भव हो सकता है जब शिल्पी व्यक्तियों को उचित पद दिया जाये और शिल्पी व्यक्ति भी आंदोलनों आदि द्वारा अधिक चिड़चिड़ाहट उत्पन्न न करे।

16.3 सारांश

भारतीय लोक प्रशासन में सामान्यवादी प्रशासकों को प्रमुखता दी गयी है। सामान्यवादी प्रशासक श्रेष्ठ माने जाते हैं। अधिकारी या विशेषज्ञ इन सामान्यवादी प्रशासक के नेतृत्व में काम करते हैं। दोनों ही अधिकारी अपने-अपने पक्ष में तर्क देते हैं। सामान्यवादी प्रशासक अपने को श्रेष्ठ इन तर्कों पर कहते हैं–

1. उन्हें व्यापक प्रशासकीय अनुभव जैसे कि राजस्व एवं न्यायी संबंधी अनुभव प्राप्त होते हैं (2) भारतीय प्रशासन परम्परागत रूप से क्षेत्र प्रशासन पर आधरित है जो सामान्यवादी अधिकारी को श्रेष्ठ मानता है। (3) वे सविचालय के शीर्ष पर स्थित नौसिखिये मन्त्री एवं क्षेत्र के विशेषज्ञों के मध्य कड़ी की भूमिका निभाते हैं। (4) विशेषज्ञ सेवाओं की सबसे बड़ी शिकायत यह है कि आई० ए० एस० एवं उनकी सेवाओं के वेतन तथा भत्तों में पर्याप्त अन्तर है और विशेषज्ञ की अपेक्षा आई० ए० एस० में पदोन्नति के अधिक एवं शीघ्र अवसर प्राप्त होते हैं। समय-समय पर इस समस्या के समाधान के लिए विभिन्न सुझाव दिये गये हैं। उच्च पदों पर योग्यता के आधार पर नियुक्ति की जानी चाहिए चाहे उनका सेवा संबंधी आधार कुछ भी है। फिर भी विशेषज्ञों की अपेक्षा सामान्यवादी प्रशासन के पक्ष को अधिक महत्व दिया गया है।

16.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ कठिन शब्द

1. सामान्यवादी
2. विशेषज्ञ

16.5 अभ्यास के प्रश्न

(क) दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. सामान्यवादी बनाम विशेषज्ञ वाद-विवाद पर एक लेख लिखिए।

(ख) लघु उत्तरीय प्रश्न

1. सामान्यवादी के तर्क पर टिप्पणी लिखें।

2. विशेषज्ञ के तर्क पर टिप्पणी लिखें।

16.6 प्रस्तावित पाठ

1. डॉ० एम० पी० शर्मा : **लोक प्रशासन सिद्धान्त एवं व्यवहार**, किताब महल, इलाहाबाद
2. अवस्थी और महेश्वरी : **लोक प्रशासन**, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा
3. विष्णु भगवान एवं विद्याभूषण : **लोक प्रशासन के सिद्धान्त**, एस, चांद एण्ड कम्पनी लिमिटेड

◆◆◆

लोक सेवाओं में भ्रष्टाचार

पाठ-संरचना

17.0 उद्देश्य
17.1 विषय प्रवेश
17.2 लोक सेवाओं में भ्रष्टाचार की प्रवृत्ति
17.2.1 भ्रष्टाचार का अर्थ
17.2.2 भ्रष्टाचार के कारण
17.2.3 लोक सेवा में भ्रष्टाचार के विभिन्न प्रकार
17.2.4 भ्रष्टाचार समाप्त करने के लिए सुझाव
17.2.5 भारत में भ्रष्टाचार विरोधी उपाय
17.3 सारांश
17.4 पाठ में प्रयुक्त कुछ कठिन शब्द
17.5 अभ्यास के प्रश्न
17.6 प्रस्तावित पाठ

17.0 उद्देश्य

भ्रष्टाचार भूतकाल की देन है। मानव समाज में यह किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रहा है। कौटिल्य ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ अर्थशास्त्र में भ्रष्टाचार के विभिन्न रूपों का वर्णन किया है। फिर मुगल साम्राज्य के पतन तथा भारत में ब्रिटश शासन के आगमन से भ्रष्टाचार ने गम्भीर रूप धारण कर लिया। स्वतन्त्रता के बाद सरकार की गतिविधियों में कई गुणा वृद्धि हुई। सत्ता की होड़ तथा पद के पीछे मदांधता ने स्थिति और भी खराब कर दी। भ्रष्ट अधिकारियों के विरुद्ध कारवाई करने की कोशिश की गई परन्तु जिन विधियों को अपनाया गया उनसे इस विश्वास को बल मिला कि सरकार भ्रष्टाचार को समाप्त करने के लिए गम्भीर नहीं है। स्थिति और भी खराब हो गई जब जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि भी इस कुचक्र में फंस गये। नैतिकता और निष्ठा के रक्षक स्वयं प्रजातान्त्रीय प्रशासन की संरचना को गिराने के माध्यम बन गये। इसका परिणाम यह हुआ है कि सरकारी कर्मचारियों तथा राजनीतिक नेताओं के बीच खुले तौर से भ्रष्ट कार्यों को करने के लिए पारंपरिक हितों का कपट प्रबंध स्थापित हो गया है। इस लेशन प्लान का उद्देश्य यह बताना है कि भ्रष्टाचार क्या है, भ्रष्टाचार के कारण क्या हैं? भ्रष्टाचार विरोधी क्या-क्या उपाय किये गये हैं, इत्यादि। अंत में सारांश, कुछ पाठ में प्रयुक्त कुछ कठिन शब्द और अभ्यास हेतु कुछ प्रश्न भी दिये जायेंगे।

17.1 विषय प्रवेश

सामान्य अर्थों में भ्रष्टाचार किसी अधिकारी के पद, उसकी स्थिति या उसके साधनों का व्यक्तिगत उन्नति के लिए प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष ढंग से इच्छानुरूप और विचारपूर्वक किया गया शोषण है। इस व्यक्तिगत उन्नति का रूप भौतिक लाभ, सत्ता या प्रभाव या मान की वृद्धि हो सकता है। यह एक ऐसी उन्नति होती है जो सामान्य रूप से स्वीकृति प्राप्त स्तरों द्वारा मान्य या उचित नहीं होती। इससे समुदाय या अन्य लोगों के हितों की समग्र रूप से हानि होती है। डॉ० राधाकृष्णन के अनुसार भ्रष्टाचार एक ऐसी बुराई है जिसके विरुद्ध चारों ओर से सभी स्तरों पर अभियान चलाया जाना चाहिए। सभी विकासशील प्रजातान्त्रों में भ्रष्टाचार ने एक बीमारी का रूप धारण कर लिया है।

17.2 लोक सेवाओं में भ्रष्टाचार की प्रवृत्ति

17.2.1 भ्रष्टाचार का अर्थ

कौटिल्य ने अपनी पुस्तक "अर्थशास्त्र में भ्रष्टाचार का उल्लेख करते हुए बताया है कि जिस प्रकार जिह्वा पर रखे हुए शहद का स्वाद न लेना असम्भव है, उसी प्रकार किसी शासकीय अधिकारी के लिए राज्य के राजस्व के एक अंश का भक्षण न करना असम्भव है।" चैम्बर्स अंग्रेजी-हिन्दी कोश में शब्द का अर्थ बताया गया है–भ्रष्टाचार, दुराचरण, घूसखोरी, सड़न, अशुद्धता, अवमिश्रण एवं भ्रष्ट प्रयोग। भारतीय दण्ड संहिता की धारा 161 में भ्रष्टचार की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है–"जो व्यक्ति सरकारी कर्मचारी होते हुए या होने की आशा में अपने लिये या किसी अन्य व्यक्ति के लिए विधिक पारिश्रमिक से अधिक कोई घूस लेता है या स्वीकार करता है अथवा लेने के लिए तैयार हो जाता है या लेने का प्रयत्न करता है अथवा किसी कार्य को करने के लिए उपहारस्वरूप या अपने शासकीय कार्य को करने में किसी व्यक्ति के प्रति पक्षपात और उपेक्षा या किसी व्यक्ति की सेवा या कुसेवा का प्रयास, केन्द्रीय या अन्य राज्य सरकार तथा संसद या विधानमण्डल अथवा किसी लोक-सेवा के सन्दर्भ में करता है तो उसे तीन वर्ष तक के कारवास का दण्ड अथवा अर्थदण्ड या दोनों दिये जा सकेंगे।"

भ्रष्टाचार किसी समय-विशेष अथवा देश-विशेष की समस्या नहीं है। यह हर समय, हर काल में, हर जगह किसी न किसी रूप में अवश्य पाया जाता रहा है। अमेरिका, इंगलैण्ड, फ्रान्स, सोवियत संघ, जर्मनी तथा विश्व के अन्य देशों में भी प्राचीन समय से भ्रष्टाचार पाया जाता रहा है। आज भी प्रशासन में यह मौजूद है और इस बात की कोई सम्भावना नहीं कि आने वाले कल का प्रशासन इस रोग से पूर्णतः मुक्त होगा। भ्रष्टाचार के लिए किसी स्तर का भी निर्धारण नहीं किया जा सकता है । यह एक चपरासी से लेकर राष्ट्रपति और प्रधानमंत्री तक में पाया जा सकता है। इसकी मात्रा चार आने पैसे से लेकर अरबों खरबों डालर तक हो सकती है। भारत में बोफोर्स काण्ड, अमेरिका के वाटरगेट काण्ड, जापान में भर्ती काण्ड तथा पाकिस्तान में श्रीमती बेनजीर पर लगाये गये भ्रष्टाचार के आरोप इस बात को सिद्ध करने के लिए काफी हैं कि भ्रष्टाचार की पहुँच शासन के निम्नतम स्तर से लेकर सर्वोच्चतम स्तर तक व्याप्त है।

डॉ० सम्पूर्णानन्द ने अपने लेख में कहा है कि प्रशासकीय कार्य के सम्पादन में एक के द्वारा दूसरे को धन देना ही भ्रष्टाचार को अभिव्यक्त करने का एकमात्र रूप नहीं है। इसके अनेक रूप हो सकते हैं जो किसी भी प्रकार से कम निन्दनीय नहीं है। जिसे हम बुरा समझते हैं उसके प्रति आंखें मूंद लेना अपराधी को अनैतिक कार्यों की छूट देना और अपने दुष्कृत्यों के लिए उसे अपने दण्ड से बचने देना, पद-सोपान में किसी उच्च अधिकारी के स्थान पर जो वास्तव में दोषी है, उसके किसी अन्य को बलि का बकरा बनाना, गलत सूचना देना या किसी महत्वपूर्ण सूचना या तथ्यों को प्रस्तुत न करके उन्हें पूरी तरह या आंशिक रूप से दबाना और तथ्यों को जानबूझकर गलत निर्णय हेतु प्रस्तुत करना भ्रष्टाचार है।

डॉ० अवस्थी एवं महेश्वरी ने सार्वजनिक धन के दुरुपयोग और गलत संरक्षण को भी भ्रष्टाचार का अभिन्न अंग माना है। उनके शब्दों में, "भ्रष्टाचार का एक अन्य रूप जिसे सामान्यतः परन्तु गलती से भ्रष्टाचार नहीं माना जाता, सार्वजनिक धन का मनमाने ढंग से व्यय करना है। सार्वजनिक धन के अपव्यय का अर्थ यह है कि सार्वजनिक धन की आवश्यक मद में या निर्धारित उद्देश्य के लिए आवश्यकता से अधिक धन व्यय करके सामान्य जनता पर अनावश्यक व्यय-भार बढ़ा दिया जाता है। सार्वजनिक धन समस्त जनता से प्राप्त होता है और चूंकि अधिकांश भारतीय जनता निर्धन है अतः इससे निर्धन जनता के कष्टों में बहुत वृद्धि हो जाती है। संरक्षक ही केवल पतित नहीं होता अपितु संरक्षण प्राप्तकर्त्ता भी पतित हो जाता है, क्योंकि वह यह सोचने लगता है कि जीवन में प्रगति के लिए कठोर परिश्रम या गुण आवश्यक नहीं है, "रिश्ते एवं सम्बन्ध आवश्यक हैं और चापलूसी या चमचागिरी से काम बनते हैं।"

भारतीय सन्दर्भ में अगर देखा जाय तो भ्रष्टाचार प्राचीन काल से ही किसी न किसी रूप में पाया जाता रहा है। प्राचीन काल के राजाओं के राजस्व अधिकारी तथा कर एकत्रित करने वाले अधिकारी कर वसूली का एक बहुत बड़ा भाग हड़प लिया करते थे। जो भी छोटी-बड़ी नियुक्तियां की जाती थीं उनमें उन्हीं व्यक्तियों को रखा जाता था जो राजा अथवा मन्त्री के विशेष कृपापात्र या चापलूस होते थे। सम्राट अशोक, चन्द्रगुप्त मौर्य तथा अन्य प्राचीन राजाओं के काल में भी इसके उदाहरण मिलते हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र, रामायण, महाभारत तथा सिकन्दर के आक्रमण के काल में भी इसे किसी न किसी रूप में देखा जा सकता है मुगल शासन में भ्रष्टाचार ने अपने पंख कुछ और फैलाये तथा जनता का आर्थिक और शारीरिक शोषण किया। भारत में जब ईस्ट इण्डिया कम्पनी का शासन आया तब भ्रष्टाचार और भी ज्यादा बढ़ गया। अंग्रेजों के इस शासनकाल के दौरान विभिन्न अंग्रेज अफसरों को व्यापक शक्तियां प्रदान की गयी थी। राजस्व, पुलिस, न्यायालय तथा आबकारी विभागों में कार्यरत अंग्रेज अधिकारियों ने भ्रष्टाचार के द्वारा खूब धन कमाया तथा जनता पर अत्याचार किये। इनके आशीर्वाद प्राप्त भारतीय कर्मचारियों व अधिकारियों ने भी जनता पर अंग्रेजों के आतंक के साये में अपनी जेबें गर्म कीं।

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद भारत की असामान्य और अराजकतापूर्ण परिस्थितियों ने भ्रष्टाचार के अनुकूल वातावरण पैदा किया। राष्ट्र के विभाजन, अंग्रेज अफसरों की विदाई तथा जनकल्याण के कार्यों को प्रोत्साहन देने के फलस्वरूप योग्य और उच्च पदों पर कार्मिकों का अभाव होने लगा। लाइसेन्स, परमिट, कोटा तथा नियन्त्रण का युग प्रारम्भ हो गया। इन कार्यों के बंटवारे में पैसे, पद और प्रभाव का खुलेआम दुरुपयोग किया जाने लगा। भ्रष्टाचार के सम्बन्ध में यह सामान्य धारणा है कि मुगल शासकों द्वारा उत्पादित अंग्रेज शासकों द्वारा लाड़-दुलार से पोषित भ्रष्टाचार की यह रूपवती नारी जनजागरण तथा जनकल्याण के लिए पिशाचिनी बन गयी, जिसने आशा, विश्वास तथा धैर्य के स्निग्ध लावण्यमय आलोक की आभा को अपने काले आंचल में लगभग ढंक लिया है। आज प्रशासन का शायद ही कोई ऐसा क्षेत्र हो जो इस महाछत्र की विशाल छाया से अपने को वंचित रख सका हो।

वर्त्तमान समय में भारत के संसदीय इतिहास में सर्वाधिक चर्चित होने वाला भ्रष्टाचार का मुद्दा, चारा घोटाला (बिहार राज्य) आयुर्वेद दवाओं की खरीद घोटाला (उत्तर प्रदेश), बोफोर्स तोप तथा पनडुब्बियों के सौदे में खायी जाने वाली दलाली से सम्बन्धित रहा है जिसने वर्षों से आज तक भारतीय संसद को अभूतपूर्व हंगामें में सराबोर किये रखा है। इस दलाली के दलदल में अनेकों पाक-साफ दामन समझे जाने वाले उच्चस्तरीय शासक और राजनीतिज्ञ फंसे पड़े हैं। रामकृष्ण हेगड़े जैसे व्यक्ति को भी पक्षपात और भ्रष्टाचार की कालिख ने नहीं बख्शा। 1989 में हुए संसदीय चुनावों ने भ्रष्टाचार और पक्षपात की अविस्मरणीय घटनाओं को जन्म दिया तथा सांसदों और विधायकों के रूप में अनेक अपराधी और असामाजिक तत्वों का प्रवेश लोकसभा और विधानसभाओं में हुआ।

17.2.2 भ्रष्टाचार के कारण :

भारतीय सन्दर्भ में भ्रष्टाचार के निम्नलिखित कारण हैं–

1. ऐतिहासिक कारंण–भारत में अंग्रेजी शासन के काल में उच्च पदों पर अंग्रेजी अफसर विराजमान थे तथा निम्न पदों पर स्थानीय लोगों को रखा गया था। अंग्रेजों के द्वारा इन्हें पर्याप्त वेतन नहीं दिया जाता था। फलतः ये अपनी आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए रिश्वत लेते थे, तरह-तरह के उपहार मांगते थे। अंग्रेजो के आतंक से सामान्य जनता इतनी भयभीत थी कि वह इन निम्न कर्मचारियों की हर इच्छा को पूरा करती थी।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद प्रशासन का विस्तार हुआ। अंग्रेज अफसरों के चले जाने के कारण उच्च पदों पर कम अनुभवी तथा कम योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति की गयी। इन अधिकारियों की अक्षमता के कारण भी भ्रष्टाचार को बढ़ावा मिला। विकास योजनाओं के लिए सरकारी कर्मचारियों को बहुत बड़ी मात्रा में धन खर्च करने का अवसर प्राप्त हुआ। कोटा, परमिट तथा लाइसेंस व्यवस्था की शुरूआत हुई। इन कार्यों के लिए उस समय के अधिकारियों ने अपने स्वविवेक का अनुचित प्रयोग किया तथा खूब अवैध धन कमाया।

2. आर्थिक कारण–भारत में भ्रष्टाचार की वृद्धि में आर्थिक कारणों का भी योगदान रहा है। कर्मचारियों को पर्याप्त वेतन नहीं दिया जाता है। जिस रफ्तार से महंगाई में वृद्धि होती है उस रफ्तार से महंगाई-भत्ते में वृद्धि नहीं हो पाती है। बढ़ती हुई मंहगाई के कारण सरकारी सेवक अपनी निम्नतम आवश्यकताओं को भी पूरा नहीं कर पाते हैं। कुछ कर्मचारी इस आर्थिक संकट को बर्दास्त नहीं कर पाते हैं और अवैध साधनों के द्वारा धन कमाकर इस संकट से उबरना चाहते हैं। धीरे-धीरे वे छोटी मोटी घूस लेना प्रारम्भ करते हैं और जब आदत लग जाती है तो फिर यह छूटती नहीं है। अतः भ्रष्टाचार की वृद्धि में आर्थिक कारणों का अत्यधिक योगदान रहा है।

3. सामाजिक कारण–जिस समाज में व्यक्ति रहता है उस समाज में अपने जीवन-स्तर को सामाजिक मापदण्डों के अनुरूप बनाना पड़ता है। दुर्भाग्यवश हमारे समाज में व्यक्त्यिों की महानता एवं परिवार की श्रेष्ठता का मापदण्ड धन की मात्रा और ऊंचा रहन-सहन है। हर निम्नतर पद वाला व्यक्ति अपने उच्चतर पदाधिकारियों के जीवन-स्तर की तरफ लालसापूर्ण निगाहों से देखता है और उसकी बराबरी करना चाहता है। पारिवारिक उत्सवों तथा धार्मिक त्योहारों के अवसर पर जो ज्यादा खर्च करता है समाज में उसी की प्रशंसा की जाती है। समाज में सभी लोग धन कमाने की होड़ में लगे हुए हैं। जो जितना धन कमाता है वह उतना ही ज्यादा आराम से रहता है, सुख-सुविधाओं का उपभोग करता है। अतः कोई भी व्यक्ति इस होड़ में पीछे नहीं रहना चाहता है। कुछ चरित्रवान व्यक्तियों को छोड़कर प्रायः सभी भ्रष्टाचार की इस बहती गंगा में डुब्बी लगाना चाहता है। अतः जिसे जहां मौका मिलता है वहीं अपनी हसरत पूरी करने लगता है।

4. राजनीतिक कारण–लोक-सेवाओं में भ्रष्टाचार का एक महत्वपूर्ण कारण राजनीतिक भी है। राजनीतिज्ञों का प्रशासन में दिन-प्रतिदिन हस्तक्षेप बढ़ता जा रहा है। मन्त्रियों, विधायकों और सांसदों के मन में भी पैसा कमाने की होड़ लग जाती है, क्योंकि जब तक वे आर्थिक दृष्टि से अपने को सुदृढ़ नहीं बनाते हैं तब तक वे चुनाव नहीं लड़ सकते हैं। आज का चुनाव-प्रचार इतना ज्यादा खर्चीला होता जा रहा है कि किसी सांसद या विधायक का पांच साल का पूरा वेतन "पोस्टर" की भी व्यवस्था नहीं कर सकता है। अतः राजनीतिज्ञों ने पैसे कमाने के लिए लोक-सेवा में अवसरों को पैदा किया है। अभियन्ताओं के तबादले में, मनमानी तौर पर पदोन्नति के लिए नियुक्ति के लिए भ्रष्टाचार के मामले को दबाने के लिए, महत्वपूर्ण पद दिलवाने के लिए निगमों अथवा बोर्डों के अध्यक्ष बनाने के लिए तथा महत्वपूर्ण ठेके दिलवाने के लिए मन्त्रियों, सांसदों तथा विधायकों ने दस हजार से लेकर लाख रुपये तक की दरें तय कर रखी हैं। इन पैसों के बदले वे इन्हें संरक्षण प्रदान करते हैं। जब इन्हें संरक्षण मिल जाता है तो ये खुलकर धन कमाते हैं तथा उसके एवज में नेताओं को चुनाव में धन देते हैं।

5. नैतिक कारण–आज व्यक्तियों के नैतिक मूल्यों का पतन बहुत ही तेजी से हो रहा है, "सादा जीवन उच्च विचार" की धारणा समाप्त होती जा रही है और इसका स्थान "ऊंचा जीवन, नीच विचार" ने ले लिया

है। पहले के लोग अपने चरित्र, आदर्श और सिद्धान्त को ज्यादा महत्व देते थे। उनकी आवश्यकताआएं कम थीं और सीमित साधनों में अच्छी तरह जीवन व्यतीत कर लिया करते थे। अब जीवन की आवश्यकताओं में निरन्तर वृद्धि हो रही है। पहले जो विलास की वस्तुएं थीं अब वह जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएं बनती जा रही हैं। इन आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए प्रचुर मात्रा में धन की आवश्यकता होती है। ईमानदारी के तरीकों से इस प्रकार की आवश्यकताएं पूरी नहीं की जा सकती हैं किन्तु अनैतिक उपायों के द्वारा सुगमता से धन कमाया जा सकता है। आवश्यकता की इस फिसलन में नैतिक मूल्य फिसलते चले जा रहे हैं और अनैतिकता अपनी जड़ें जमाने लगी हैं।

6. लाल फीताशाही एवं जटिल कार्यपद्धति—लोक-सेवा में भ्रष्टाचार का एक प्रमुख कारण नौकरशाहों एवं कार्यालयों की जटिल प्रक्रियात्मक पद्धति है। संथानम् समिति ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि सरकारी दफ्तरों में काम करने की प्रक्रिया बहुत जटिल तथा विलम्बकारी है। इन कार्यालयों में नियमों और उपनियमों का जाल बिछा होने के कारण कार्यों के सम्पादन में अत्यधिक देरी होती है। फाइलों को एक अफसर की मेज से दूसरे अफसर की मेज तक जाने में बड़ा समय लग जाता है। कुशल और उत्साही व्यापारी वर्ग इन फाइलों में गति लाने के लिए "गति धन" रिश्वत के रूप में अधिकारियों और कर्मचारियों को देते हैं। ठेकेदारों को भुगतान की जाने वाली राशि में लेखापाल, कनिष्ठ अभियन्ता, सहायक अभियन्ता तथा अधिशासी अभियन्ता का अलग-अलग प्रतिशत बंधा होता है जो अब कार्यालयों की कार्यविधि का अविभाज्य अंग बन गया है। बिना पैसे के कार्यालयों में शायद ही कोई काम होता हो। सरकारी खरीद में भी सुरक्षा-सामग्री से लेकर कल-कारखानों और विमानों तक में मन्त्रियों, राजनीतिक नेताओं तथा उच्चस्तरीय नौकरशाहों की "दलाली" और "कमीशन" बंधा रहता है। बोफोर्स तोपों एवं पनडुब्बी सौदे की दलाली में लिया गया कमीशन इसका एक स्पष्ट उदाहरण है।

7. औद्योगिक तथा व्यापारी वर्ग की लालची प्रवृत्ति—समाज के आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न औद्योगिक तथा व्यापारी वर्ग के लोग आज अधिक से अधिक धन कमाने के लालच में किसी भी स्तर तक अपने को ले जाने में संकोच नहीं करते हैं। उन्हें सिर्फ अपने लक्ष्य की परवाह रहती है, उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए अपनाये जाने वाले साधनों की नहीं। वे अफसरों को ऊंची से ऊंची रकम देकर खरीद लेते हैं और उनसे अपना मनचाहा कार्य करवाते रहते हैं। कीमती उपहारों एवं सुरा-सुन्दरियों के द्वारा वे अफसरों को प्रसन्न करते हैं, उन्हें बड़े-बड़े होटलों में दावतें खिलाते हैं और अपना उल्लू सीधा करते हैं। अपने कार्यक्षेत्र में पड़ने वाले प्रत्येक अफसर को पालतू बनाना ये अपनी शान समझते हैं। इन अफसरों को खरीदकर वे एक तीर से दो शिकार करते हैं—प्रथम, ये स्वयं के अपने निकृष्ट उद्देश्यों की पूर्ति में इन्हें सहायक बनाते हैं, तथा द्वितीय, अपने प्रतिद्वंद्वियों के कार्य में बाधा डलवाकर उन्हें परास्त करना चाहते हैं।

8. प्रशासनिक शक्तियों में वृद्धि एवं लोक-कल्याण की योजनाएं—लोककल्याणकारी राज्य के अभ्युदय ने प्रशासनिक शक्तियों में बेतहाशा वृद्धि की है। लोक-कल्याणकारी योजनाओं पर करोड़ों अरबों रुपये पानी की तरह बहाया जा रहा है। इन पैसों को खर्च करने का अधिकार प्रशासन के पदसोपान पर स्थित विभिन्न अफसरों को दिया जाता है। इन कार्यों की प्रकृति कुछ इस प्रकार की होती है कि इसमें लूट की अधिक गुंजाइश रहती है, जैसे गंगा सफाई परियोजना में अरबों रुपये गंगा में बह गये। भले गंगा साफ हो या न हो पर इससे सम्बद्ध अधिकारी और ठेकेदार भ्रष्टाचार की गंगा में खूब नहाये। सड़कों, अस्पतालों, पुलों, बाढ़ राहत कार्यों, सूखा-राहत कार्यों, नहरों की खुदाई जैसे जनकल्याणकारी कार्यों की प्रकृति ऐसी होती है कि इसमें घूस तथा कमीशन लेने की व्यापक गुंजाइश होती है। सम्बन्धित मन्त्री को भी उसका कमीशन समय पर दे दिया जाता है, इसलिए वह भी ज्यादा परेशान नहीं होता है।

9. दहेज-प्रथा व बेरोजगारी—लोक-सेवा का दहेज-प्रथा और बेरोजगारी से कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है, परन्तु लोक-सेवा में पनपे भ्रष्टाचार का सम्बन्ध अवश्य ही इन बुराइयों से है। बेटी के लिए दहेज और बेटे के लिए रोजगार—ये दो ऐसी भयानक समस्याएं हैं जिससे अधिकांश लोक-सेवा भारत में जूझ रही है। उसे जो वेतन